नम्र निवेदन

सुज्ञ पाठको !

आज इस पुस्तक को समाज के सामने देख कर मुझे अत्यन्त हर्ष होता है। इस पुस्तक ने निस्सन्देह जन साधारण के उन मिथ्या सिद्धान्त और विकल्पों को हटाया है, जो वर्षों से लोगों के हृदयों में दिवाली या दीपोत्सव सम्बन्धी ठसे हुए थे। यह आवश्यक था कि दिवाली जैसा बड़ा पर्व, जिसको कि आज भारतवर्ष की छोटी मोटी सभी जैन और जैनेतर जातियाँ बड़े चाव और गौरव के साथ मानती हैं तथा अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ और मिथ्या व्यवहार चलाया करती हैं, का खुलासा जन साधारण के सामने होकर तत्सम्बन्धी अज्ञानांधकार दूर किया जाय। इस पुस्तक ने इस बड़ी कमी की पूर्ति की है।

इस पुस्तक के लेखक का परिचय हमारे जैसा अल्पज्ञ क्या दे सकता है! तथापि पुस्तक बाँच कर चित्त कुछ लिखने को उमड़ आता है। इस पुस्तक के लेखक वे हैं, जिन्होंने कई वर्षों से समाज के सामने अनेक पुस्तकें स्वतंत्र और अनुवादित रूप में रखी हैं, जिनके विशाल अनुभव और ज्ञान पूर्वक व्याख्यानों और शास्त्र सभाओं ने लोगों के हृदय-कपाट खोल दिये हैं, उन्हीं की लेखनी से आज यह सन्मति सुमन माला चल रही है जिसका कि यह द्वादशम सुमन है। इस के प्रत्येक सुमन एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने वाले हैं, वे

लेखक हैं श्रीमान पूज्य धर्मरत्न सन्मार्ग-दिवाकर पंडित दीपचंद्रजी वर्णी।

पाठको! आज इनका स्वास्थ्य ५ वर्ष से उत्तरोत्तर बिगड़ रहा है। शारीरिक असह्य वेदना और अशक्ति होने पर भी आप अपने नित्य कार्यों से समाज की अपूर्व सेवा कर रहे हैं। इसके लिये समाज आपकी चिर कृतज्ञ है और रहेगी।

समाज से निवेदन है कि वह इन सुमनों से यथोचित लाभ उठाकर स्वपर कल्याण करे।

मेरी प्रभु से प्रार्थना है कि श्रीमान वर्णीजी शीघ्रातिशीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर समाज की और साहित्य विशेष का उत्तरोत्तर ऐसे ऐसे लेख या पुस्तक लिख कर सेवा करते रहें। इत्यलम्।

माह सुदी ५ वी० नि०
संवत् २४६३

समाज सेवी—
पं० रतनचंद जैन चौधरी,
ललितपुर वाले,
धर्माध्यापक दिगम्बर जैन पाठशाला
उजेड़िया (गुजरात)

* ॐ *

दिवाली या दीपावली

यह पर्व भारतवर्ष के सभी पर्वों से अधिक मान्य और सर्वदेशव्यापी होने से यदि इसे पर्वसम्राट् कहें तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि अन्यान्य पर्व जब कि एक एक जाति, समाज, धर्म व प्रांतादि में व्याप्य रूप से रहते हैं (मनाये जाते हैं), तब यह भारतवर्ष भर में सभी समाजों धर्मों, जातियों तथा प्रांतों में उत्साह सहित मनाया जाता है, सभी लोग अपने अपने घरों की सफ़ाई करते हैं, बासन साफ़ करते हैं, वस्त्राभूषण धो धुलाकर स्वच्छ करते हैं, अपने अपने घरों और दूकानों को सजाते हैं, नए २ खिलौने, बासन आदि शकुन मान कर खरीदते हैं, सभी पेशे वाले अपने अपने आजीविका उपकरणों को सम्हालते हैं, सभी स्व स्व योग्यतानुसार अपने अपने घरों तथा दूकानों को जगमग ज्योति जगाकर प्रकाशमान करते हैं अर्थात् कोई बिजली व गैस लाइट करते हैं और कोई मिट्टी के दीपकों में तिली, सरसों, नारियल आदि का तेल भर कर नवीन रुई की बत्ती जलाते हैं, तात्पर्य-इस दिन अमीर से गरीब तक के निवास-स्थान प्रकाशमय दीखते हैं, सभी के चेहरों पर हर्ष रेखाएं दिखाई देती हैं, बाजारों की सजावट तो देखते ही बनती है, जिस से जहाँ तक बनता है बेचने के लिए नवीन नवीन वस्तुएँ दूर दूर से ला लाकर सजावट के साथ दूकानों में लगाते हैं, जिस से दर्शक गण सहसा आकर्षित चित्त होकर यथेष्ट नफ़ा देकर

भी खरीदते हैं। सभी तरह के मेवा, मिष्ठान्न, फल, शाक, चना, चवैना आदि अमीर से गरीब तक के भोग योग्य पदार्थों से बाजार हरे भरे दीखते हैं, फेरी वाले गली कूचों में फिर कर अपनी घंटी बजाते हुए अपना जुहर जुहर राग अलापते फिरते हैं, जिस से नन्हें नन्हें बालक बालिकाएँ दौड़ दौड़ कर घरों में जाते और हिड़स २ कर गुरुजनों से पैसा मांग स्वेच्छित वस्तुएँ ले ले कर खाते, खेलते, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित प्रसन्न चित्त दीखते हैं। ब्राह्मण लोग तिलक छापा लगाए सजधज के, पोथी पत्रा लिए महाजन व्यापारियों के यहाँ जाते हैं, आगामी नवीन वर्ष का फल सुनाते और दक्षिणा लेकर पधारते है। साहूकार व्यापारी भी यहीं से अपना अपना वर्षारंभ करते, नवीन चौपड़ा (बहियें) प्रारम्भ करते, पुरानी बाक़ी निकालते, आँकड़ा बनाते, दूकान का मेल मिलाते, और आगामी नया कारबार शुरू करते हैं। तात्पर्य:- कार्तिक वदी त्रयोदशी से लेकर सुदी एकम तक प्रत्येक नगर व ग्रामों में ख़ासी चहल-पहल रहती है।

यह परम्परा भारतवर्ष में हजारों वर्षों से चली आरही है। यह पर्व कहाँ से; किस से; कब से और क्यों चला; यद्यपि इस विषय में लोक में अनेकों काल्पनिक जन श्रुतियाँ प्रचलित हैं, तथापि इसका सच्चा प्रामाणिक वर्णन या इतिहास जैनियों के यहाँ ही पाया जाता है, जिससे विदित होता है कि यह पर्व जैनियों से ही, आज से २४६२ वर्ष पूर्व से, विहार प्रांतस्थ पावापुरी से, जैनियों के अंतिम (चौबीसवें) तीर्थंकर श्री १००८ महावीर प्रभू के निर्वाण कल्याणक तथा उन के प्रधान शिष्य गौतम गणनायक को सर्वज्ञ पद प्राप्त (केवल ज्ञान) होने से चला है।

इस दिन एक साथ दो महोत्सव थे-(१) श्री महावीर निर्वाण (लक्ष्मी) प्राप्ति उत्सव, (२) श्रीगौतम गणनायक को केवल ज्ञान (शारदा सिद्धि) प्राप्ति महोत्सव। इस लिए देव, इन्द्रादि तथा मनुष्य विद्याधरादि ने प्रथम भगवान महावीर प्रभु के निर्वाण कल्याणक का, पश्चात् उसी समय श्री गौतम गणनायक के केवल ज्ञान का उत्सव मनाया था, इसलिए तभी से उस तिथि को वर्षों वर्ष यह पर्व मनाया जाता है। पश्चात् लोग असल बात को काल के बीतते जाने से भूलने लगे और रूढ़ि का अवलम्बन लेकर अनेक फेरफार करके इसे मनाने लगे हैं, तो भी विचार करने से इस में भी असली बात का कुछ न कुछ आभास मिल ही जाता है, वह यह कि लोग निर्वाण (मोक्ष) लक्ष्मी के स्थान में हिरण्य सुवर्ण आदि लक्ष्मी तथा उसके उपार्जन के हेतु स्वरूप व्यापारिक, व्यावहारिक उपकरण गज, तराजू, बांट पायली, हथौड़ा, निहाई, बसूला, रन्हाना, सुई, कतरनी, करघा आदि और केवल ज्ञान के स्थान में, हंसबाहनी वीणाधारिणी कल्पित शारदा अथवा बहीखाता, दावात, क़लम आदि पूजते हैं और नाना प्रकार से उत्सव मनाते हैं।

समस्त भारतवर्ष में जैनियों में तो आम तौर से यह रिवाज है कि अमावस के प्रातः काल सभी जगह नर नारी श्री जैन मंदिर में एकत्रित होते हैं और श्रीमज्जिनेन्द्र देव का अभिषेक पूजन करते हैं। पश्चात् श्री महावीर भगवान की, तथा सरस्वती जिनवाणी की पूजा करके एवं निर्वाण भक्ति (निर्वाण कांड भाषा या प्राकृत) बोल कर लड्डू चढ़ाते हैं, पश्चात् महावीराष्टक आदि स्तुति बोलकर घर जाते हैं।

पश्चात् शाम को या कितनेक स्थानों में दूसरे दिन सवेरे बैठते वर्ष (नवीन वर्ष) के प्रथम दिन अपने अपने घरों में कुछ पूजादि करके खाता बही का प्रारम्भ करते हैं।

बुंदेलखंड तथा मध्य प्रांत के जैनियों में सवेरे अमावस्या को तो ऊपर बताए अनुसार मंदिर में जिनेन्द्र देव का अभिषेक पूजन करके तथा लड्डू चढ़ाकर निर्वाणोत्सव मनाते हैं, और शाम को अपने अपने घरों में लोग भंडार-गृह में, चौक पूर कर उसके मध्य में ५ दीपक घी के और आस पास १६ दीपक तेल के चतुर्मुख जला कर रखते हैं, पास ही भीत पर कंकू (रोली) से चरण चिन्ह बनाते हैं। उस दिन इनको जितने मिल सकें उतने ही प्रकार के फल, गन्ना, मेवा, मिष्टान्न लाते हैं और चौक के पास रखते हैं, फिर अक्षतादि द्रव्यों से अर्चन करते हैं और बही खाता आदि लिखते हैं।

यह शाम के घरों घर होने वाली पूजन जैन अजैन सभी में समान रीत्या होती है। जैनेतर लोग कोई कोई ब्राह्मणों से भी शारदा तथा लक्ष्मी पूजन कराते हैं, किन्तु जैनी तो वहाँ के अपने धर्मके इतने दृढ़ श्रद्धानी हैं, कि दिवाली पर्वमें तो क्या किन्तु किसी भी मंगल कार्य यथा लग्नादि में भी ब्राह्मणों को नहीं बुलाते न ब्राह्मणों से बनवाकर भोजन ही लेते हैं। उनका यह कथन वास्तविक है कि जो अपने देव, गुरु, धर्म को नहीं मानता, किन्तु उल्टा अपने देव, गुरु, धर्म, का विरोधी है, उसके हाथ से कोई भी धार्मिक अथवा व्यावहारिक कार्य नहीं कराना चाहिए, न उनके यहाँ का या उनका बनाया हुआ भोजन ही खाना चाहिए। हम उनकी इस धार्मिक दृढ़ता की प्रशंसा करते हैं, तथा अन्य भाइयों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि जो

लोग जैन देव (अर्हंत सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी) निर्ग्रन्थ (दिगम्बर साधु) और जिनोपदिष्ट वस्तु स्वरूप को दिखाने वाले धर्म (अहिंसा) को नहीं मानते या उसके विरोधी हैं, उनके साथ या उनके हाथ का बनाया हुआ या स्पर्श किया हुआ भोजन या उनके घर का भोजन नहीं लेना (खाना) चाहिये। और न उनके मुख से धर्मोपदेश सुनना चाहिये, न लग्नादि कोई भी कार्य कराना चाहिये, भले ही वे बृहस्पति तुल्य विद्वान् हों। किन्तु अपने धर्म का दृढ़ श्रद्धानी भले ही थोड़ा पढ़ा लिखा हो, तो भी उससे अपने धार्मिक कार्य, पूजादि व धर्मोपदेशादि अथवा व्यावहारिक लग्नादि वस्तु विधानादि कार्य कराना चाहिये, तथा अपने समस्त धार्मिक तथा व्यावहारिक कार्यों में अपने ही देव शास्त्र, गुरु की स्थापना व पूजादि करना चाहिये, न कि लम्बोदर, गजानन आदि की स्थापना, पूजन, वन्दना।

अब ऊपर लिखी रीति (जो बुंदेलखण्ड, मध्य प्रांत में) प्रचलित हैं, उसमें जैन धर्म का क्या रहस्य छिपा है, सो ही बताते हैं—

दीवाल पर के चरण चिह्नों से श्री महावीर प्रभु तथा गौतम स्वामी के चरण चिह्नों की स्थापना समझना चाहिये, सोलह दीपक उन दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के द्योतक हैं, जिनको जन्मान्तर में भाकर श्री महावीर भगवान् ने तीर्थंकर पद प्राप्त किया था तथा पांच घी के दीपक उन वीर प्रभु के पञ्च कल्याणकों तथा पञ्च परमपदों (पञ्च परमेष्ठी) के द्योतक हैं, अनेक प्रकार के फल, फूल मेवादि इस अतिशय के द्योतक हैं कि जहां २ समवशरण का विहार होता था, वहाँ २ आस-पास सब ओर सौ सौ योजन में दुर्भिक्ष तथा मरी न होती थी,

ईति भीति न रहती थी और सब ऋतुओं में फलने फूलने वाले फल फूल, एक साथ फूल फल जाते थे, बही खाता (शारदा) पूजन, केवलज्ञान (जिन वाणी) और लक्ष्मी पूजन, मोक्ष (निर्वाण) लक्ष्मी की द्योतक हैं, चौक पूरना समवशरण की भूमि (धूलीशाल) का द्योतक है- इत्यादि रहस्य उक्त रूढ़ि में छिपा हुआ है, भले ही लोग इसके रहस्य को न जान कर मात्र परम्परा रूढ़ि के अनुसार ही करते हों।

इसलिए बुद्धिमानों को उचित है कि वास्तविक रहस्य को समझ कर रूढ़ि में सुधार करें।

ऊपर बता आए हैं कि यह आज से २४६३ वर्ष पूर्व से, जब कि श्री १००८ महावीर प्रभु को निर्वाण और श्री १००८ गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हुआ था, और देव मनुष्यों ने पावापुरी के उद्यान में जाकर दोनों महोत्सव सोत्साह मनाये थे, तथा जो वहाँ नहीं पहुँच सके, उन्होंने अपने स्थानीय जिन चैत्यालयों (मन्दिरों) में ही स्थापना करके उत्सव मनाया था और तभी से प्रति वर्ष कार्तिक कृष्णा अमावस्या को उन महोपकारी प्रभु के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करते हुए, उनके गुण स्मरणार्थ यह पर्व मनाते आरहे हैं।

वीरप्रभु का उपदेश संसार के सभी जीवों के हितार्थ उनको वास्तविक सुखी करने के लिए था, सार्वभौमिक और सर्व हितकारी था, इसीलिए ही इसे सभी लोग मानते आरहे हैं, पर वे उसके असली रहस्य को भूल गये और रूढ़ि रूप से मानते हुए भी, उसमें बहुत फेरफार कर लिया, तथा इस धार्मिक पर्व को व्यावहारिक रूप दे दिया।

बहुत से अज्ञानी तो इन पर्व दिनों में जुआ खेलने जैसा भारी पाप करते हैं, आतिशबाजी (फटाका) आदि फोड़कर अनन्तानंत जीवों का घात करते हैं, रुपया, मुहर आदि जड़ वस्तुओं को लक्ष्मी मान कर तथा बही खाता आदि को शारदा मान कर पूजने लगे हैं, इसलिए उनका मिथ्यात्व हटाने तथा तथ्य बात के प्रचारार्थ, यह सन्मति सुमन माला का एकादशम सुमन मैंने महावीर स्वामी के संक्षिप्त जीवन चरित्र और पूजाओं सहित तैयार करके तथा श्रीयुक्त सेठ सवाभाई लखमलदास जैन दशाहुंवड बाल ब्रह्मचारी ओरान (अहमदाबाद गुजरात) निवासी ने प्रकाशित करके साधर्मी जनों को भेंट किया है, इसलिये सबको उचित है कि इसे पढ़ कर इसमें बताई हुई रीति के अनुसार रूढ़ि में सुधार और प्रचार करें, ताकि प्रभावनांग बढ़े।

निर्वाणोत्सव (दीपोत्सव) मनाने की विधि।

कार्तिक बदी १३ को प्रातःकाल उठ कर सामायिक करे, पश्चात् स्नानादि नित्य शारीरिक क्रियाओं से निवट कर श्री जिनालय में जाकर देव वन्दना पूजन आदि करे, स्वाध्याय करे, पश्चात् यदि पुण्योदय से कोई अतिथि (मुनि एल्लिक क्षुल्लक आर्यिका त्यागी ब्रह्मचारी आदि) मिल जावें, तो उन्हें आहारादि दान करके स्वयं भोजन करे और १६ पहर के उपवास का प्रत्याख्यान करके सामायिकादि धर्म ध्यान में लीन हो जावे, इस प्रकार तेरस के दिन के शेष २ पहर रात्रि के ४ पहर चौदस के दिन के ४ और रात्रि के ४ पहर धर्म ध्यान में बितावे।

(इस तेरस को धन तेरस लोग कहते हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि इसी रोज भगवान् वीरनाथ ने समस्त बादर योगों का निरोध करके सूक्ष्म किया था और मन, वचन और कायको सम्पूर्ण प्रकार से गुप्त करके मोक्ष लक्ष्मी के साथ विलास करने की तैयारी की थी, उधर मोक्ष लक्ष्मी भी उनको वरण करने की इच्छा से टकटकी लगाये बाट देख रही थी, समवशरण विघट चुका था और समवशरणस्थित प्राणी सब यथा स्थान स्थित हुए, उस मङ्गल महोत्सव को देखने के उत्सुक हो रहे थे, इसलिये इस दिन का नाम धन तेरस सार्थक पड़ा, इसलिये तेरस के दिन से ही समस्त आरम्भादि त्याग कर वीर भगवान् को भक्ति में लवलीन हो जाना चाहिये।)

पश्चात् चतुर्दशी की रात्रि को पिछले पहर में उठ कर सामायिक पाठादि करे तथा तेरस के दिन से लेकर कार्तिक सुदी एकम तक नित्य तीनों काल सामायिक के साथ एक-एक माला इन मन्त्रों को जपै—

" ॐ ह्रीं महावीराय नमः। ॐ ह्रीं गौतमगणेशाय नमः। "

पश्चात् सामायिक जाप पाठादि से निवृत्त होकर शरीर शुद्धि करे और जिनालय में जाकर जिन दर्शन वन्दन करने के अनन्तर शुद्धक प्रासुक जल से भगवान का अभिषेक करके नित्य नियम पूजायें करे, पश्चात् श्रीमहावीर प्रभु की, श्री गौतम स्वामी की, श्रीसरस्वती जिनवाणी की, तथा निर्वाण क्षेत्रों की पूजायें (जो इसी पुस्तक में आगे लिखी हैं) करे। पश्चात् निर्वाण-भक्ति (निर्वाण काण्ड) पढ़ कर लड्डू चढ़ावें, (जो स्वयं शुद्ध आटा, बेसन, घी, खांड़ आदि पदार्थों से दिन में ही छने हुए

जल से, अपने हाथों से मन्दिर के निकट उपाश्रय (धर्मशाला) आदि में बैठ कर विधिपूर्वक बनाया हो, क्योंकि हलवाई (कंदोई) के यहां का बनाया हुआ तथा मार्ग में (मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओं के होने के कारण) चल कर लाया हुआ या पादत्राण (जूतादि) पहर कर लाया हुआ या बिना धुले, मल से स्पर्शित वस्त्र पहिरे हुए या विदेशी अपवित्र या चर्बी से लग कर बनने वाले देशी मिलों के वस्त्र पहिरे हुए या रेशम (हिंसा से उत्पन्न होने वाला) या ऊन (ऊन वाले प्राणियों को सताकर पैदा किया जाने वाला) वस्त्र पहिर कर लाया हुआ या बनाया हुआ लड्डू अपवित्र होने से चढ़ाने के योग्य नहीं होता, अपवित्र पदार्थ के पूजा में चढ़ाने से पुण्य के बदले उल्टा पाप बन्ध होता है, इसलिये शुद्ध खद्दी का धुला हुआ सूती वस्त्र पहिर कर ही विधिपूर्वक शुद्ध द्रव्यों से बनाया हुआ लड्डू ही चढ़ाना चाहिये ।

पश्चात् शांति विसर्जन करके इसी पुस्तक में पीछे लिखे हुए भजन, स्तुति बोल कर श्रीमहावीर प्रभु की, श्रीगौत्तम गण-धर की, श्री जिनवानी की जय बोलें ।

इस प्रकार हर्षोत्साह सहित पूजन विधान करके सभा-गृह में सभी नर-नारी, बाल-बालिकाओं सहित शांतिसे बैठें और इसी पुस्तक में लिखे हुए श्रीमहावीर भगवान् का जीवन-चरित्र पढ़ें-सुनें, पश्चात् पद व जिनवानी की स्तुति बोलकर जयकारे के साथ उत्सव पूर्ण करके घर जावें और अतिथि-सत्कार या करुणादान आदि करके कुटुम्बियों सम्बन्धियों या इष्ट मित्रादि सहित भोजन करें, तथा जिनको लोक व्यवहार

के अनुसार इसी दिन (अमावस्या को) शाम को या दूसरे दिन (कार्तिक सुदी एकम को) प्रातः काल अपने-अपने घर उत्सव मनाना होवे, तो उनको घर के किसी पवित्र स्थान में ऊँची टेबिल पर सिंहासन में पञ्च परमेष्ठी (विनायक) यंत्र स्थापन करे या शास्त्र स्थापना करे, पश्चात् अष्ट द्रव्य से महावीर स्वामी, गौतम स्वामी तथा जिनवाणी की पूजायें करे, पद स्तवन बोले, फिर बहियों पर साँथिया बना कर, "श्रीपञ्चपरमेष्ठिभ्यो नमः, श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः, श्रीवर्द्धमान स्वामिभ्यो नमः श्रीगौतमगणेशाय नमः, श्रीसरस्वतिजिनवाणिभ्यो नमः-ये पञ्च मङ्गल स्वरूप नाम लिखे, पश्चात् मिती वार वीर निर्वाण सम्वत् आदि लिख कर शिलक (रोकड़) बाकी आदि जमा खर्च लिखे।

फिर सम्बन्धी आदि स्वजन मित्रादि का यथायोग्य सत्कार करे, मिष्टान्न आदि बाँटे, दीन दुखियों को करुणा दान करे, जिन धर्म (वीर वाणी) के प्रचारार्थ कुछ द्रव्य निकालें, गत वर्ष का वैर, विरोध मिटा कर परस्पर गले लग कर मिलें, न्यायपूर्वक व्यापार के नये-नये साधनों पर विचार करें, जिससे देश में उद्योग धंधे की वृद्धि हो, बेकारी मिटै, सभी लोग आजीविका पाकर सुख से जीवनयापन करते हुए साथ ही परलोक का साधन (धर्म सेवन) करते, मनुष्य जन्म को सफल करें। जिन धर्म के देश-विदेशों में प्रचार का यत्न सोचें, इस प्रकार से उत्सव मनावें और जुआ खेलना या पटाका फोड़ना आदि कुरीतियां रोकें।

श्रीवीरगुणानुरागी—
(धर्मरत्न पं०) दीपचन्द्र वर्णी।

महावीर स्वामी का संक्षिप्त जीवन चरित्र।

अब यहाँ यह विचारना है, कि वे महात्मा पुरुष कौन थे; और उन्हों ने संसार के लिए क्या किया; जिससे सभी लोग मोहित होकर हजारों वर्षों से उनके स्मारक स्वरूप इस पर्व को मनाते चले आते हैं। आइए, अब इसी का विचार करें।

सज्जनो ! आज से लगभग २७८५ वर्ष पूर्व इसी भारत वसुंधरा को पवित्र करने वाले श्री तेईसवें तीर्थंकर श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी गिरिराज श्री सम्मेदाचल (जो बंगाल प्रांत के हजारी बाग जिले में ईशरी स्टेशन से लगभग ८ मील की दूरी पर अति प्राचीन काल से उन्नत शिखरों सहित स्थित है) से शुभ तिथि श्रावण सुदी सप्तमी को निर्वाण पद प्राप्त हुए। उनके पश्चात् कुछ ही वर्षों में भारतवर्ष में वैदिक हिंसा का जोर बढ़ गया और धर्म के नाम पर संख्यातीत पशु पक्षी जीते जो यज्ञों में होमे जाने लगे, शक्ति की उपासना के नाम पर भी असंख्यात प्राणी देवी देवताओं की कल्पित मूर्तियों के आगे मारे जाने लगे, पृथ्वी पर आर्तनाद फैल गया, परम अहिंसक दयालु नर नारियों के हृदय विदीर्ण होने लगे, धर्मान्धता और बैकुंठ के सुखों की कल्पना के आगे कोई किसी की नहीं सुनता था, राजा प्रजा सभी विवेकहीन हुए हिंसा धर्म में आसक्त होरहे थे, विचारे वाक्यहीन दीन निर्बल निरपराध प्राणी यों ही घास फूंस की तरह काट दिए जाते, होम दिए जाते। वह भयानक दृश्य देख कर भारत मेदिनी कांप उठी, और उसे एक ऐसी प्रबल शक्ति की जरूरत पड़ी कि जो इसकी संतानों के धर्म और प्राणों की रक्षा करे।

यद्यपि उस समय एक शक्ति महात्मा बुद्ध के नाम से प्रगट हुई और उसने यथाशक्ति हिंसा का निराकरण भी किया, परन्तु वह शक्ति इतनी प्रबल न थी कि सम्पूर्ण अहिंसा का प्रचार करके हिंसा को रोक सके, इस लिए मूक दीन बल हीन प्राणियों के पुण्योदय से पूर्व भारत के विहार प्रांत की कुंडलपुरी नगरी में महाराज सिद्धार्थ की प्रियकारिणी (त्रिशला देवी) रानी के गर्भ में शुभ तिथि आषाढ़ सुदी षष्ठी को अच्युत (सोलहवें) स्वर्ग से चयकर एक दिव्यात्मा अपने पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म रूप शुभ प्रकृति सहित आकर प्राप्त हुआ, उसी समय से देश में अप्रकट हर्ष की ज्योति प्रसरने लगी, देवेन्द्रादि ने कुंडलपुर में महाराजा सिद्धार्थ के यहाँ गर्भ से ६ माह पूर्व ही से रत्नवृष्टि करना प्रारम्भ कर दी थी, नगरी को नाना भांति से सजाया था, तभी से संसार में कोई आनन्द मूर्ति के दर्शन होने की आशा फैल गई थी, जो गर्भ दिवस से दृढ़ हो गई, और क्रमशः उसकी पूर्ति चैत्र सुदी त्रयोदशी को हुई; अर्थात् इस शुभ तिथि को वही दिव्यात्मा जो त्रिशला महारानी के गर्भ में था, दिव्य तेज के साथ बाहर आया अर्थात् श्री महावीर प्रभु के नाम से एक अमोघ शक्ति का जन्म हुआ।

इस दिव्यात्मा (वीर) का प्रादुर्भाव प्राची (पूर्व) दिशा (विहार प्रांत) से हुआ, इस लिए जैसे सूर्य पूर्व से निकल कर थोड़ी देर में दशों दिशाओं को अपनी प्रभा से प्रकाशमान कर देता है, उसी प्रकार इस वीरात्मा ने अपने कौमार काल ही से संसार के अज्ञान और अधर्म रूप

निशा को भगा कर ज्ञान ज्योति और धर्म तेज का प्रकाश करना आरम्भ कर दिया। "पूत के लक्षण पालने में दीखते हैं" यह बात वीर प्रभु के चरित्र से चरितार्थ होगई। कारण कि आप में जन्मते ही अपूर्व तेज, बल, शौर्य, वीरता, निर्भीकता और कुशाग्र बुद्धि आदि अनेक गुण प्रगट होने लगे थे।

प्रथम ही जब आप का जन्म हुआ, तो सुर, नर, खगेन्द्रों के आसन डोल उठे, जिस से उन्होंने जाना, कि वीर प्रभु का जन्म कुण्ड नगरी में नाथवंशमंडन महाराज सिद्धार्थ के यहाँ हुआ है, बस वे अपने अपने आसनों से उठे और उस दिशा में साथ पग चल कर परोक्ष नमस्कार किया, पश्चात् सभी दल बल सहित प्रभु के जन्म महोत्सव के लिए चल पड़े। सौधर्म इन्द्र भी विभूति सहित ऐरापति (गजेन्द्र) पर चढ़ कर शची (इन्द्राणी) सहित स्वर्ग से चल दिया, प्रथम ही आकर नगर की प्रदक्षिणा दी और पश्चात् महाराज के महल में आया, शची गर्भ गृह में गई और माता जी को मायामयी निद्रा कराके तथा मायामयी बालक शय्या पर रख कर प्रभु को उठा लाई और इन्द्र को सौंप दिया, इन्द्र ने नमस्कार करके प्रभु को गोद में लिया, और अतृप्त हो सहस्र नेत्रों से प्रभु का रूप देखने लगा, पर तृप्त न हुआ, उस समय उसकी दृष्टि सर्व प्रथम प्रभु के एक सौ आठ लक्षणों तथा नवसौ व्यंजनों में से सिंह लक्षण पर पड़ी और इस लिए उसने प्रभु का सिंह लक्षण और वीर नाम प्रगट किया। पश्चात् उत्सव सहित सुमेरु गिरि पर्वत के पाण्डुक बन में ले गया और उस बन में स्थित चार अकृत्रिम जिन चैत्यालय होने से प्रथम ही उनकी तीन प्रदक्षिणा दीं, पश्चात् उस बन में स्थित अनादि

पाण्डुक नाम की शिला पर प्रभु को पूर्व मुख करके विराजमान किया, और देवों के द्वारा पंचम क्षीर सागर से हाथों हाथ भर कर लाए गए एक हजार कलशों द्वारा प्रभु का अभिषेक किया ।

कहते हैं ये १००८ कलश जो कि १×४×८ योजन प्रमाण माप वाले थे, सौधर्म और ईशान इन्द्र ने अपने १००८ हाथ विक्रिया से बना कर प्रभु के मस्तक पर एक ही साथ ढार दिए थे, ऐसी अमोघ धारा पड़ने पर भी प्रभु को तो पुष्प वृष्टिवत् ही प्रतीत हुई थी, इसी महाबल को देखकर इन्द्र ने प्रभु का नाम महावीर रख दिया ।

पश्चात् सुकोमल वस्त्र से शरीर पोंछ कर शची ने भगवान् का, स्वर्ग से लाए हुए दिव्य वस्त्राभूषणों से शृङ्गार किया और उत्सव सहित पीछे पिता गृह में लाकर भगवान को उनके माता पिता को सौंप दिया, और मंगलोत्सव प्रारम्भ किया । कहते हैं उस समय इन्द्र ने स्वयं नट रूप धारण करके भक्तिवश जो ताण्डव नृत्य किया था, वह अपूर्व ही था । इस प्रकार इन्द्रादि देव जन्म कल्याणक महोत्सव करके अपने स्थान को गए और देव कुमारों को प्रभु की सेवा में नियुक्त कर गए ।

प्रभु द्वितिया के चन्द्रवत् बल, वीर्य, शौर्य, बुद्धि आदि गुणों में वृद्धि करने लगे, इसलिए संसार में इनका वर्द्धमान नाम प्रसिद्ध हुआ ।

एक समय भगवान कतिपय देव कुमारों तथा राजकुमारों के साथ बन क्रीड़ा कर रहे थे, कि एक संगम नामा देव को प्रभु के बल व साहस के परीक्षा करने की सूझी और

उसने तत्काल एक विकराल सर्प का रूप धारण किया तथा लगा सब को डराने। यह देख कर और राजकुमार तो यत्र-तत्र भाग गये, परन्तु प्रभु ने निर्भीकता से उसका सामना किया और बात की बात में उसका मद उतार दिया। इस प्रकार वह प्रभु के बल, पराक्रम, साहस आदि गुणों की प्रशंसा करके यथा स्थान चला गया।

ऐसे ही किसी एक समय दो चारण मुनि आकाश मार्ग से जाते थे, उनके मन में कुछ सिद्धान्त विषयक शङ्का थी, सो प्रभु को (जो उस समय बालकों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे) देखते ही शङ्का का समाधान हो गया, इसलिए वे प्रभु की "सन्मति" नाम से प्रशंसा, स्तुति करके चले गए और साथ के बालकों ने प्रभु से उन आकाशचारी मुनि युगल के सम्बन्ध में पूछा- यह कौन हैं ? तो प्रभु ने उनको इङ्गित करके कहा--"पूज्य पद के धारी" इत्यादि ऐसी तो प्रभु के बाल-कौमार-काल की हज़ारों घटनाएँ हैं कि जिनसे उन का साहस, शौर्य वीरता आदि प्रगट होता है।

ज़ब प्रभु का बाल्य (शिशु) काल पूर्ण हुआ और उन्होंने कौमारावस्था में पदार्पण किया, तो पिता के साथ राज्य-कार्य में हाथ बटाने लगे। आपका नीति, न्याय, शासन अपूर्व था। आपके न्याय से वादी-प्रतिवादी दोनों ही प्रसन्न रहते थे। " दूध का दूध और पानी का पानी " वाला न्याय-शासन यहीं चरितार्थ था। शेर और बकरी एक घाट पानी पीते, इस प्रकार का आपका न्याय-शासन था। दूर-दूर से लोग आकर कुंडनगरी में अपना न्याय कराते और सन्तुष्ट होकर जाते थे। इस प्रकार सब ओर न्याय-कुशलता की चर्चा फैल रही थी।

एक समय भगवान जब कि आपकी वय ३० वर्ष की हो चुकी थी और आप कुमार-काल से बढ़ कर यौवनावस्था में पदार्पण करने वाले थे कि महाराजा सिद्धार्थ को आपके लग्न की सूझी। वे आपके सन्मुख यह प्रस्ताव रखने ही वाले थे कि आपको अपने भवान्तरों का स्मरण हो आया। दूसरी ओर कई दीन, निर्बल, मूक प्राणियों की होती हुई हिंसा पर भी इनका ध्यान गया, बस आपका दयार्द्र हृदय एक दम तलमला उठा, जीवों की दया ने आपके हृदय में गहरा घाव कर दिया, इसलिए आप को संसार के सभी विषय-सुख विषवत् प्रतीत होने लगे। आप विचारने लगे कि संसारी मोही प्राणी अपने तुच्छ जीवन के लिए तथा विनाशीक कर्माधीन विषय कषायों की पुष्टि के लिए स्वार्थवश क्या-क्या अनर्थ नहीं करता? देखो ये विचारे मूक निर्बल प्राणी जो प्रकृति दत्त तृण, जल पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं, जिनका शरीर मात्र ही धन है, जो अपने शरीर से किसी का कुछ बिगाड़ तो करते ही नहीं हैं, किन्तु यथा सम्भव इन मनुष्यों का उपकार ही करते हैं। यथा कोई खेती के काम आते हैं, कोई भार वहन करते हैं, कोई सवारी के काम आते हैं, कोई दूध देकर इनका पोषण करते हैं, कोई ऊन, वस्त्रादि देते हैं, कोई चौकीदारी करते हैं इत्यादि कहाँ तक कहें; ये पशु पक्षी सब प्रकार से मनुष्यों का उपकार ही करते हैं। इनकी सहायता के बिना मनुष्य पंगुवत् कुछ भी कर नहीं सकता। इतना होने पर भी यह मनुष्य प्राणी कितना स्वार्थी, हृदय-हीन, निर्दयी, विवेक-शून्य हो रहा है कि मिथ्या कल्पना करके दूसरे जीवों को घातने में ही धर्म तथा सुख मान बैठा है।

वास्तव में इसको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है, इसीलिए यह अनादि, मोहादि कर्मों से विमोहित हुआ, जड़ शरीरादि पर वस्तुओं में ही आपा मान रहा है। वर्त्तमान पर्याय को नित्य मान कर नाना प्रकार से उसको स्थिर रखने की चेष्टा करता है। इन्द्रिय विषय भोग (जो वास्तव में रोग है) को सुख मान कर उनको इस लोक में बढ़ाने, रक्षित रखने और भवान्तरों में भी इससे अच्छे सुखों की इच्छा से मृग तृष्णा में पड़ा है, इत्यादि विपरीत कारणों से आप तो आकुलित हुआ दुःखी हो ही रहा है, परन्तु मिथ्या स्वार्थ वश औरों के दुःख में भी निमित्त (हेतु) बनता है। सब को विनाश करके समस्त लोक का वैषयिक वैभव आप अकेला ही भोगना चाहता है। परन्तु लोक एक ही है, उसमें जो वस्तु जितनी है, उतनी ही है। जीव-राशि, अक्षय अनन्तानन्त प्रमाण है और सभी की प्रायः समान ही इच्छा है, तब किस-किस के भाग में कितनी-कितनी सामग्री आ सकती है? इसका निष्कर्ष यह है कि न तो जीवों की इच्छा की कभी पूर्ति हो सकती है और न वे कभी सुखी हो सकते हैं।

इसलिए हित इसी में है कि जिस प्रकार से संसार, शरीर और भोगों का वास्तविक स्वरूप समझ कर उनसे मोह छोड़ स्वस्वरूप की सिद्धि के मार्ग में लगे और जीव को पराधीन बनाने वाले ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वथा अपनी आत्मा से पृथक्करण करके सदा के लिए स्वाधीन हो जावे। वास्तव में—

(१) जगत् की समस्त वस्तुएँ, पर्यायों के पलटने से अनित्य हैं, किन्तु अपने द्रव्य की अपेक्षा सभी नित्य हैं, इसलिए द्रव्य दृष्टि रख कर पर्यायों को बदलते हुए देख कर हर्ष विषाद न करना चाहिए।

(२) वास्तव में कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं नाश के सन्मुख है। यदि कोई अपनी रक्षा चाहता है, तो उसको चाहिए कि वह अपने ही अविनाशी आत्म-द्रव्य की शरण लेवे और इसके अभ्यास के लिए मार्ग-दर्शक, अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वलोकस्थित जिन-साधुओं की शरण में जावे, क्योंकि वे इसके आदर्श हैं, इनमें अर्हंत, मोक्ष पद के निकट हैं, सिद्ध उसे प्राप्त कर चुके हैं, शेष तीनों पदधारी उसके साधन में लगे हुए हैं, जो शीघ्र ही सिद्धि पाने वाले हैं।

(३) जिसमें इच्छा, राग, द्वेष, विषय-कषायें, इष्टानिष्ट कल्पना और उनके वियोग-संयोग में सुख-दुःख हों, जन्म, जरा, रोग और मरणादि हो, वही संसार है, इससे बचने अर्थात् सुखी होने के लिए यही कर्त्तव्य है कि इनके स्वरूप को जान कर इससे मोहको त्याग करे और अपने स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करके, उसी में रम जावे, जिससे फिर संसार में न रुलना पड़े।

(४) जीव सदा से अकेला है, अज्ञानवश अपने ही किए शुभाशुभ कर्मों का फल आप ही भोगता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करके अपने उसी एक शुद्धात्मा में मग्न होना चाहिये और शेष कल्पनाओं को छोड़ देना चाहिये।

(५) जब कि शरीर ही, जिसमें कि जीव निरन्तर रहता आया है, आत्मासे जुदा है, अन्य है, आयु पूर्ण होने पर यहीं पड़ा रह जाता है, तो फिर शरीर से भी पृथक् नारी, पुत्र, मित्र, बान्धव, स्वजन, परिवार सम्बन्धी तथा गौ, महिषी, अश्व, गजादि चेतन तथा घर-क्षेत्र, वस्त्र, आभूषण, धान्यादि अचेतन पदार्थ कैसे अपने हो सकते हैं. ये सब पर हैं, इसलिए इनको आत्मा से

भिन्न जान कर मोह (ममत्त्व भाव) का त्याग करना चाहिये और अपने एक निज स्वरूप में अपनत्त्व मानना चाहिये।

(६) मोही जीव शरीर के बाह्य रंग रूप में मोहित हो जाते हैं, उनको अन्तर्दशा का ज्ञान नहीं है कि इस मक्खी के पङ्ख के समान बारीक चमड़ी के भीतर हड्डी, माँस, रुधिर, पीव, मज्जा, शुक्र, वात, पित्त, कफ, आम, मल-मूत्र आदि अपवित्र, दुर्गन्धित, घृणावनी वस्तुएँ भर रही हैं, जो यथासमय शरीर से बाहर निकलती रहती हैं। यदि शरीर पर की वह पतली चमड़ी निकाल दी जाय, तो इसकी ओर देखा भी न जायगा, बल्कि काक, गृद्धादि तथा श्वान, स्याल आदि माँसलोलुपी प्राणियों के सिवाय कोई इसके निकट तक न जायगा। इतने पर भी यह स्थिर नहीं रहता तथा अनेकानेक रोगों से भरा हुआ है। इसलिए मुमुक्षु जीवों को इससे सर्वथा मोह त्याग अपने शुद्धात्म-स्वरूप में रमण करना चाहिये।

(७) यह जीव अनादि कर्मबन्धवशात् पराधीन हो रहा है। इस अन्तरङ्ग उनके उदय के निमित्त से और इष्टानिष्ट द्रव्य क्षेत्र काल भावों के निमित्त से अपने मन, वचन तथा काय-योगों-द्वारा शुभाशुभ भाव करता है, जिससे लोक में स्थित कर्म होने योग्य पुद्गल वर्गणाएँ खिंच कर चली आती हैं और इस जीव के असंख्यात प्रदेशों को सब ओर से घेर कर, पहिले घेरी हुई कार्माण पुद्गल वर्गणाओं के साथ बँध जाती हैं, जिससे यह जीव उनके भीतर घिरा हुआ कैदीवत् पराधीन हो जाता है। यदि यह भेद को जान लेवे कि मैं ही मकड़ी के जालवत् आप ही कर्मजाल पूरता हूँ और आप ही उसमें फँस जाता हूँ, तो यह सावधान रह कर कर्मास्रव न करे और न बन्धन को ही प्राप्त हो।

(८) यदि यह जीव स्वपरस्वरूप को जान लेवे और वस्तु स्वरूप को समझने लगे, तो राग, द्वेष आदि शुभाशुभ भावों को बाह्य निमित्त कारणरूप, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावों में तथा अन्तरङ्ग कर्मों के उदय में इष्टानिष्ट कल्पना ही न करे, जिससे यह वस्तुओं के परिणमन में मध्यस्थ रहे, तो कर्मास्रव होने ही न पावे, जिससे बँध कर पराधीन होना पड़ता है।

(९) यद्यपि यह जीव अनादि से कर्मबन्ध सहित है और उस कर्म की सन्तति भी बराबर इसके साथ परम्परा से चली आ रही है, अर्थात् सन्तान परम्परावत् पुरातन कर्मों को, जिनकी आबाधा स्थिति और अनुभाग पूर्ण होने पर संक्लेश भावों से फल भोग कर निर्जीर्ण करता जाता है और पुनः संक्लेश भावों से नवीन बाँधता जाता है। इस तरह गजस्नानवत् आस्रव बन्ध के साथ (संवर रहित) सविपाक निर्जरा करता रहता है, जो निष्फल है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि और प्रकार से निर्जरा हो ही नहीं सकती और समस्त कर्मों से छूट कर जीव मुक्त हो ही नहीं सकता! नहीं-नहीं अविपाक निर्जरा संवर-पूर्वक भी होती है, जिससे जीव सर्वथा मुक्त होकर सहजानन्द स्वरूप स्वाधीन हो जाता है, परन्तु उसी के होती है, जो प्रथम स्वपर तत्त्व को जान कर व श्रद्धान कर (निश्चय सम्यक्त्व) सहित पर वस्तुओं में इष्टानिष्ट कल्पनाओं को न करता हुआ उनको ज्ञेय रूप से जानता है, अन्तरङ्ग में अपने सहजानन्द स्वरूप का अनुभव करता है और बाह्य उसके साधक तप, व्रत, संयम, यम, नियम समिति गुप्ति आवश्यकादि गुणों का पालन करता है, यही निर्जरा सार्थक सर्व कर्मनाशनी हितकारी है।

(१०) यह लोक तथा अलोक अनादिऽनिधन है। मनुष्य संस्थान वत् ३४३ घन राजू प्रमाण यह लोक १४ राजू ऊँचा है, अधः मध्य और ऊर्ध्व भागमे यथाक्रम मोटा, पतला फिर मोटा है, इसके मध्य भाग में १४ राजू ऊँची, १ राजू लम्बी चौड़ी चौकोर खंभवत् त्रसनाली है, त्रस जीव इसी में रहते हैं और स्थावर सर्वत्र। इसी के ऊपरी भाग में तनु वात वलय के अन्त में सिद्ध जीवों के ठहरने का स्थान है, सो जीव जब तक कर्म-बंध करता रहता है, तब तक उसके फल भोगने के योग्य क्षेत्र मे (समस्त लोक में) उपजता और मरता रहता है, भ्रमण करता रहता है, किन्तु जब समस्त कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाता है, तो लोक शिखर को प्राप्त होकर सदा के लिए वहीं रहता है, फिर संसार में नहीं भटकता। समस्त लोकालोक को देखता, जानता हुआ भी अपने सहजानन्द स्वरूप में ही मग्न रहता है।

(११) संसारी जीवों को देव, मनुष्य आदि गतियों के सुख व ऐश्वर्य आदि प्राप्त होना असाध्य नहीं है, क्योंकि कर्मबंधवश ये पद तो अनेक बार पाये और पा सकेगा, परन्तु दुर्लभ अर्थात् कष्टसाध्य केवल बोधि (मोक्ष मार्ग) ही है, सो काल लब्धि के निकट आने पर ही जीव इसे पा सकता है। सो काल लब्धि कब आवेगी, इसको जीव नहीं जानता, इस लिए उसे प्रमादी (निरुद्यमी) न होना चाहिये और सदैव सत्समागम का निमित्त मिलाते रह कर जीव, अजीव आस्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षादि प्रयोजन भूत तत्त्वार्थों की चर्चा करने व उनका मनन करने में लगा रहना चाहिये, तथा इनके साधनभूत वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देव (अर्हंत) इस मार्ग में चलने वाले सच्चे दिगम्बर निर्ग्रन्थ

साधु तथा मोक्षमार्ग प्रदर्शक शास्त्र और निवृत्तिलक्षण वाले को अहिंसा धर्म का सेवन करते रहना चाहिए और सदैव अपने सम्यक्ज्ञान बढ़ाने, तथा सदाचार शीलव्रत, संयम, तप, दान आदि को बढ़ाते व शुद्ध करते रहना चाहिए। काललब्धि प्राप्ति व उसके ज्ञान होने के ये ही साधन हैं। ऐसे साधकों को दुर्लभ बोधि भी सुलभ हो जाती है।

(१२) धर्म वस्तु का निज स्वभाव ही है अर्थात् जीव के मोह, क्षोभ (रागद्वेष) रहित जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र रूप भाव है, वे ही धर्म हैं, व्यवहार में सम्यक्त्व सहित महाव्रत समिति गुप्ति तप, संयम, मूल गुण, उत्तर गुण पालन अणु व्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदि सभी धर्म हैं, जो इनका यथार्थ पालन करता है, वह तद्भव अथवा कुछ थोड़े ही भवों में स्वाधीन हो सहजानन्द का भोक्ता होता है।

इस प्रकार चिंतवन करते हुए और भी विचारने लगे, कि अब मुझे इस राज्य वैभव की आवश्यकता नहीं है और न अब मैं विवाह के बन्धन में पड़ कर अपना संसार ही बढ़ाऊँगा। मैं महलों में वैषयिक सुख भोगूं और असंख्यात अनन्त प्राणी निरपराध बेमौत मारे जांय और सो भी धर्म के नाम से, यह सर्वथा अनुचित है। एक मनस्वी प्राणी तो इतना हीन नहीं हो सकता। इसलिए इस क्षणिक पराधीन वैभव का मोह त्याग कर इनकी रक्षा और संसारी जीवों को सच्चे सुख (मोक्ष) का मार्ग बताना ही श्रेष्ठ है।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति ही इस कार्य को अपने प्रभाव से कर सकते हैं- (१) सार्वभौम सम्राट (चक्रवर्ती) और (२) परम अहिंसक वीतराग सर्वज्ञ परमेष्ठी।

इनमें पहिला साधक, पराधीन और क्षणिक है, क्योंकि प्रथम तो सार्वभौमिकता प्राप्त करने के लिए बहुत समय और पर-सहाय की आवश्यकता है, फिर आज्ञा का प्रभाव बहुत काल नहीं रह सकता, वह तो उस सम्राट् के राज्य पद पर रहते हुए ही रहेगा। क्योंकि वह दबाव था, मात्र बल से आज्ञा का पालन था, उस दुष्ट हिंसा का संस्कार आत्मा से दूर तो न हुआ था, इस लिए यह प्रयत्न ठीक नहीं है, और मेरी यह नर आयु भी थोड़ी कुल ७२ वर्ष की है, जिसमें ३० वर्ष तो यों ही बेकार निकल गए, शेष ४२ वर्ष रहे हैं, इसमें कितने समय के लिए संसार-कीच में फँसना और फिर धोते बैठना, इससे यही अच्छा है कि नवीन कर्म-जाल न बढ़ाकर पुराना लगा हुआ ही धोकर साफ़ करना, सो जिस समय मेरे आत्मा से सम्पूर्ण राग द्वेष परिणति हट जायगी, तो बेचारे ज्ञानावरणादि कर्म भी स्वयं हट जायंगे। उस समय आत्मा का सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होगा, परणति शुद्ध होगी। समस्त चराचर वस्तुओं का उनके अनन्त गुण और पर्यायों सहित यथार्थ ज्ञान होगा, शुद्ध परणति होने से वास्तविक प्रभाव भी होगा, तभी ये मोही प्राणी वस्तु-स्वरूप का वास्तविक उपदेश सुनकर ग्रहण कर सकेंगे, अपनी भूल को समझ कर स्वीकार करेंगे और उसे छोड़ेंगे, तब ही इन मूक, निर्बल प्राणियों को अभय दान मिल सकेगा, इसलिए यही श्रेय-मार्ग है कि पहिले अपने आत्मा को शुद्ध करना, पश्चात् औरों को उपदेश करना, क्योंकि मलिन आत्मा कभी भी दूसरों के आत्माओं को निर्मल नहीं बना सकता।

इस प्रकार श्रीवीर प्रभु चिंतवन कर ही रहे थे, कि पाँचवें स्वर्गवासी ऋषीश्वर देव वहाँ आए, प्रभु के चरणों में

कुसुमांजलि भेंट करके नमस्कार किया और प्रभु के विचारों की अनुमोदना करके वैराग्य को दृढ़ (स्थिर) किया। यद्यपि भगवान् स्वयं दृढ़ विचार वाले थे, परन्तु इन देवों का ऐसा ही नियोग है कि वे वैराग्य समय ही आते हैं, और अनुमोदना स्तुति करके चले जाते हैं। ये देव, वैरागी, ब्रह्मचारी और एकभवातारी होते हैं, इसलिए ही इनको वैराग्य और वैरागी ही रुचते हैं। जब ये नियोग पूरा करके चले गए, और इन्द्रादि देव सपरिवार आए, भगवान का अन्तिम अभिषेक किया, और अपने साथ लाई हुई पालकी में प्रभु को पधरा कर तपोवन को ले गए। वहाँ प्रभु पालकी से उतर कर देव-निर्मित शिला पर बैठ गए, उन्होंने अपने शरीर परसे समस्त वस्त्रालंकारों को उतार दिया और अपने हाथ से मस्तक के केशों का उत्पाटन किया (तीर्थंकर चक्रवर्ती हरी प्रतिहरी बलभद्र कामदेव, देव, नारकी और सब नारियों के दाढ़ी मूछ नहीं होती)

यथा–देवाविंय, नेरइया, हलहर, चक्कीय तहय तित्थयरा।
संव्ने केशव रामा कामा निक्कुंचिया होंति॥

पश्चात् सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करके पद्मासन से ध्यान में स्थिर हो गए, इस दिन मार्गशीर्ष कृष्णा १० दशमी थी।

इस प्रकार भगवान को ध्यानस्थित देख कर समस्त सुर, नरेन्द्रादि अपने २ स्थानों को पधार गए।

भगवान ने वेला तेला आदि नाना प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तपोंको मौन सहित बारह वर्ष तक किया। इसी बीच में सात्यकी नामा ग्यारहवें रुद्र ने उद्यान में प्रभु को तप से चलायमान

करने को घोर उपसर्ग किया, परंतु प्रभु उस से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। तब वह रुद्र थक कर निराश हुआ, और प्रभु को अनन्त बलशाली जान कर उनके शरण आया, स्तुति की, और अतिवीर नाम रखकर चला गया। ऐसे २ अनेकों उपसर्ग और परीषहों को साम्यभाव से सहते व तप करते हुए १२ वर्ष बीत गए।

उस समय वैशाख सुदी दशमी की शुभ तिथि थी, भगवान ऋजुकूला नदी के किनारे विहार करते हुए आकर ध्यानस्थित होगए और शुक्ल ध्यान के प्रभाव से क्षपक-श्रेणी आरूढ़ होकर अंतर्मुहूर्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन घाति चतुष्क को घात करके, केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप स्वचतुष्टय को प्राप्त हुए। भगवान सर्वज्ञ पद पर स्थित होगए।

यह जान कर इन्द्र ने कुवेर को आज्ञा की, तदनुसार उसने आकर वहाँ समवशरण (उपदेश मंडप) की विधि-पूर्वक रचना की, उसमें बारह अलग २ सभाएं, प्रभु के गंधकुटी (सिंहासन) के चहुँ ओर इस चतुराई से बनाई, कि जिससे सभी मुमुक्षु श्रोतागण समानरीत्या प्रभु के दिव्योपदेश को सुन सकें।

वे सभाएं इस प्रकार थीं—चार प्रकार के (वैमानिक, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी) देवों की चार तथा चार ही उनकी देवियों की, एक श्री मुनिराजों (साधुओं) की, एक श्री आर्यिकाओं (साध्वियों) और श्राविकाओं (गृहस्थ नारियों) की, एक समस्त भेदभाव रहित श्रावक (गृहस्थ

पुरुषों) की, और एक पशु-पक्षियों को। इस प्रकार कुल १२ सभाएं बनाईं, उन में आने, बैठ कर उपदेश सुनने की किसी को रोक न थी। पशु-पक्षी तक भी जाति, वैर छोड़ कर वहाँ आकर उपदेश सुनते और स्वशक्ति अनुसार सम्यक्त्व, चारित्र धारण करके स्वात्महित करते थे। पंडित द्यानतरायजी ने वीर प्रभु के समवशरण में जाते समय महाराजा श्रेणिक का वर्णन निम्न पद्य में इस प्रकार किया है:—

ज्ञान प्रधान लहा महावीर ने, श्रेणिक आनँद भेरि दिवाई ।
मत्त मतंग तुरंग बड़े रथ, द्यानत शोभित इन्द्र सवाई ॥
बामन, क्षत्री, वैश्य, जु शूद्र, सु कामिनि भीर घटा उमड़ाई ।
कान परी न सुनै कोऊ बान, सुधूर के पूर कला रवि छाई ॥

इस प्रकार सभा मंडप (समवशरण) तैयार होगया इन्द्रादि देव, मनुष्य, स्त्रियां, साधु, साध्वी, पशु आदि सभी धर्म पिपासु जीव आकर यथायोग्य स्थानों में बैठ गए। एक पहर (३ घंटा) समय बीत गया, परन्तु भगवान की वाणी न खिरी, उपदेश नहीं हुआ, तब इन्द्र के मन में विचार आया, वाणी क्यों नहीं खिरती ? तब उसने जाना कि सभा में ऐसा कोई योग्य व्यक्ति (गणधर) नहीं है, जो भगवान की वाणी का सम्पूर्ण रहस्य जानकर सभा में स्थित जीवों को स्पष्ट समझा सके। तब उसने अवधिज्ञान से जान लिया कि इसी मगध (बिहार) प्रदेश की ब्राह्मणपुरी में गौतमवंशी इन्द्र-भूति नाम पुरोहित (ब्राह्मण) है, वह अत्यन्त विद्वान वेद-वेदांग का पारगामी है, उस के अग्निभूति और वायुभूति विद्वान भाई तथा पांच सौ शिष्य हैं, वह इस गणधर पद को प्राप्त करके इसी भव से मोक्ष जायगा, इसलिए उसे लाना चाहिए ।

ऐसा विचार कर इन्द्र ने वृद्ध ब्राह्मण का भेष बनाया और शीघ्र ही शांडिल्ल-सुत इन्द्रभूति गौतम के निकट जाकर निम्न प्रकार पूछे । कहने लगा विप्रश्रेष्ठ आप की विद्या जगतप्रसिद्ध है, ऐसी महिमा सुन कर मैं आया हूँ, इसलिए आप दया कर मुझे इन श्लोकों का अर्थ समझा दीजिए।

धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म,
पड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्या ।
तत्त्वानि संयमगती सहिते पदार्थैः,
रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायम् ॥

तब इन्द्रभूति गौतम को इनका अर्थ ठीक न बैठा, तो वे कहने लगे-हे विप्र! तेरा गुरु कौन है और कहाँ है ?

इन्द्र-विद्वद्वर ! मेरे गुरु महावीर भगवान हैं, वे विपुलाचल पर विराजते हैं। मैं वृद्ध हूँ इस लिए विचारा था, कि आप के निकट खुलासा हो जाय, तो दूर न जाना पड़े ।

गौतम—तब तुम मुझे अपने गुरु के पास ले चलो, वहीं इसका अर्थ करूँगा ।

इन्द्र-'जो आज्ञा' कह कर गौतम को उनके भाई तथा पांच सौ शिष्यों सहित लेकर समवशरण में पहुँचा, सो मार्ग में ही दूर से समवशरण की अचिन्त्य विपुल विभूति तथा मानस्तम्भ देखते ही मान भंग हो गया, विचारों में परिवर्तन होने लगा। तब अंदर प्रभु वीर के सम्मुख जाकर सहसा नतमस्तक होगया और तत्काल भेद-विज्ञान जागृत होते वस्तु का सत्य स्वरूप प्रतिभासने लगा (अर्थात् जो ज्ञान भेद ज्ञान के अभाव में विकल्परूप मिथ्या हो रहा था,

सो भेद ज्ञान के होते ही सम्यक् रूप हो गया) इसलिए उसी समय समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रहों को त्याग कर दैगम्बरी जिन दीक्षा ग्रहण की। इस आत्म निर्मलता के कारण अर्थात् मिथ्यात्व के नाश हो जाने पर चारित्रमोह भी मंदतम होगया, जिसके प्रभाव से अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया।

और वीर प्रभु की वस्तु स्वरूप दर्शाने वाली जो दिव्य वाणी खिरी, उसको धारण करके आपने समस्त सभाओं में स्थित श्रोता गणों को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करके समझाया।

इस वीर प्रभु ने संघ सहित विहायोगति नाम कर्म के उदय से समस्त आर्य खण्ड में विहार किया, और अंतरंग तीर्थंकर तथा वचन वर्गणा (सुस्वर नाम कर्म) के उदय से बाह्य भव्य जीवों के पुण्य के निमित्त से धर्म का सत्य स्वरूप बताते हुए अनेकों निकट भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में लगाया तथा संसार के सभी प्राणियों की अहिंसा धर्म की छत्र-छाया में रक्षा की, उनको अभयदान दिया, अर्थात् सुखी किया।

श्री महावीर भगवान् के उपदेश का कुछ अंश।

भगवान् ने बताया कि—

(१) यह लोक एक है, इसी के ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक के हिसाब से ३ भेद हो जाते हैं।

यह अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा, शास्वत है—न इसे किसी ने बनाया, न कोई रक्षक और न कोई मिटाने वाला ही है।

इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन्हीं छह द्रव्यों का विस्तार है, लोक (विश्व=सृष्टि) के, ये भी अनादिनिधन हैं।

इनमें जीव द्रव्य, चैतन्यस्वभाव वाला, ज्ञाता, दृष्टा, अनन्त बली और आनन्द स्वरूप है, शेष पांच, जड़ (अचेतन) हैं, जीव, संख्या में अक्षय अनंतानंत प्रमाण, सब समान शक्ति वाले पृथक् २ हैं।

इन में जो जीव कर्मों का नाश करते हैं, वे मुक्त (सिद्ध) हो जाते हैं, ऐसे सिद्ध जीव भी अनन्त हैं, शेष कर्म सहित जीव संसारी हैं, जो सभी मोक्ष पाने की शक्ति रखते हैं। जो जीव मुक्त हो जाते हैं, वे कभी भी पीछे संसार में आकर जन्म मरणादि का दुःख नहीं उठाते और सदा स्वाधीन सहजानन्द में मग्न रहते है।

संसारी जीवों को कोई विशेष शक्ति (परमात्मा या ईश्वर) सुख देने वाला नहीं है, वे सभी अपनी वैभाविक शक्ति के विभाव परिणमन से आप ही शुभ अशुभ कर्म बाँधते हैं और उनका फल—पुण्य (सुख) पाप (दुःख) रूप स्वयं ही भोगते हैं। तात्पर्यः—वे अपना पुण्य, पाप रूप कर्म संसार आप ही बनाते हैं, आप ही उसका फल भोगते हैं और चाहें तो आप ही उसका नाश करके मुक्त भी हो सकते हैं। संसार के सभी जीव समान हैं, सभी को सुख, दुःख का वेदन भी समान-रीत्या होता है, इसलिए किसी जीव को तुच्छ जानकर कभी भी नहीं सताना चाहिए, हिंसा नहीं करना चाहिये।

पुद्गल द्रव्य जड़ है, स्पर्श रस गंध और वर्णवाला होने से मूर्तीक (रूपी) है, स्पर्शनादि इन्द्रियों का विषय है, शेष ५ द्रव्य अमूर्तीक (अरूपी) हैं, वे इन्द्रिय के प्रत्यक्ष नहीं हैं, किन्तु उनके कार्यों से छद्मस्थों (अल्प ज्ञानियों) के अनुमान में आते हैं और सर्वज्ञज्ञान के प्रत्यक्ष हैं।

संसार की रचना जो देखी जाती है, वह सब रूपी पुद्गल की है, तथा उसमें जो नाना प्रकार की चेतनात्मक क्रियायें (कार्य) देखे जाते हैं, वे जीवों के हैं, क्योंकि सभी संसारी जीव अपने २ भाव तथा द्रव्य कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के छोटे बड़े अनेकों आकार व वर्णवाले शरीर इन्हीं पुद्गलों को ग्रहण करके बनाते हैं और फिर अपने अपने शरीरों के रक्षण तथा पोषण करने के लिए अपनी-अपनी योग्यतानुसार नाना प्रकार के उद्योग करते हैं। फिर उस शरीर की स्थिति पूर्ण करके या बीच ही में परस्पर के आघात से या स्वयं कषायवश आप अपना ही घात करके मर जाते हैं (वर्तमान शरीर को छोड़ देते हैं) और पुनः नया शरीर बनाते हैं। इस प्रकार संसार में इन जीव और पुद्गलों का ही सब विस्तार या कार्य देखा जाता है, क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य वैभाविक परिणमन कर सकते हैं, तात्पर्यः—इन दोनों द्रव्यों का वैभाविक परिणमन ही संसार है।

संसारी जीवों को पुद्गलों से, शरीर, वचन, मन श्वासोच्छ्वास तथा सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि प्राप्त होता है, यही उपकार है और जीव के द्वारा पुद्गलों के नाना प्रकार के स्कन्ध बनाये बिगाड़े जाते हैं, यही उपकार है।

जीव की शुद्ध अवस्था सिद्ध है, और पुद्गल की परमाणु है। सुर, नर, तिर्यंच नारकी आदि अवस्थायें जीवों की, और नाना प्रकार की स्कंध रूप अवस्थायें पुद्गलों की, वैभाविक अशुद्ध अवस्थायें हैं।

धर्म द्रव्य सर्व लोक व्यापी एक द्रव्य है, जो जीव और पुद्गलों को चलने की क्रिया में सहायक होता है।

अधर्म द्रव्य भी लोक व्यापी एक द्रव्य है, जो जीव और पुद्गलों को किसी जगह ठहरने में सहायक होता है।

काल, लोकाकाश के प्रदेशों प्रमाण संख्या वाला अणुरूप असंख्यात द्रव्य है, जो समस्त द्रव्यों की पर्याय परिणमन में सहायक कारण है।

आकाश द्रव्य, वह विशाल द्रव्य है, जो सभी द्रव्यों को अपने अन्दर स्थान दान (अवगाहना) देता है।

ये सभी द्रव्य परिणामी हैं, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में तथा उनके गुणों में समय २ परिणमन हुआ करता है, अर्थात् ये एक पर्याय (अवस्था) को छोड़ कर नवीन अवस्था धारण करते हैं और फिर उसे भी छोड़ कर और धारण करते हैं, इस प्रकार पर्यायों का बदलाव तो समय-समय प्रति प्रत्येक द्रव्य व उसके गुणों में हुआ ही करता है, परन्तु फिर भी द्रव्य अपने स्वरूप में सदा कायम रहता है, पर्यायें बदलने पर भी द्रव्य नहीं बदलता, यही ध्रौव्यपना है और पर्यायों का बदलना ही उत्पाद-व्यय है। इस प्रकार द्रव्यें कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं।

(२) जीव अनादि काल से ही कर्म सहित है, इसीलिए यह अपने असली स्वरूप को भूला हुआ है और जब-जब जिस-जिस शरीर में जाता है, तब-तब उस-उस शरीर को ही आप स्वरूप मानता है, उसके सुधार बिगाड़ में अपना सुधार बिगाड़ मानता है। तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले समस्त चेतन, अचेतन पदार्थों को भी अपने मानता है तथा जिन से अपने शरीर का व उससे सम्बन्ध रखने वाले चेतन,अचेतन पदार्थों की रक्षा व हित समझता है, उनमें इष्ट कल्पना करके राग करता और उसके विरुद्ध पदार्थों में अनिष्ट बुद्धि करके द्वेष करता है। बस यही मिथ्या श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करने से नवीन कर्मों का आस्रव करता है और अपने तीव्र व मन्द कषाय रूप भावों से नाना प्रकार के स्वभाव, स्थिति व फल-दान शक्ति (अनुभाग) सहित कर्म प्रदेशों को बांध लेता है, अर्थात् जैसे रेशम का कीड़ा कुसेटा में अपने ही द्वारा बनाए हुये तन्तुओं को अपने ऊपर लपेट कर आप ही फँस कर पराधीन हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी अपने ही विभाव परिणामों से कर्म का आस्रव करके आप ही उन कर्म वर्गणाओं के बीच में एक क्षेत्रावगाह रूप से घिर जाता है; इसी को बंधना या बंध कहते हैं।

यदि रेशम का कीड़ा चाहे, तो नवीन तन्तु न बनाकर पहिले के बनाए हुए तन्तुओं को, जो अपने ऊपर लपेट रखे हैं, क्रमशः काट कर कुसेटा के बाहर निकल, बंधन मुक्त हो सकता है, उसी प्रकार यदि जीव चाहे, तो अपने स्वरूप का सच्चा श्रद्धान-ज्ञान करके, नवीन होने वाले कर्मास्रव के द्वारों (मन, वचन, काय रूप योग तथा मिथ्यात्व

अविरत,प्रमाद और कषायादि) को रोक कर (संवर करके) तथा पहिले के बाँधे हुए कर्मों को व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, तथा तपश्चरण के द्वारा क्रमशः काट कर (निर्जरा करके) समस्त कर्मों से छूट मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

कर्म सहित जीव की अवस्था ही संसार अवस्था है और कर्मों से छूट जाना ही मोक्ष है । संसार अवस्था में कर्मों के उदय से आकुलतामय इष्ट-अनिष्ट सामग्री प्राप्त होने से जो सुख, दुख की कल्पना होती थी, वह कल्पना मोक्ष हो जाने पर नहीं रहती, तब जीवात्मा अपने आप में आप ही अपने लिये रमता हुआ स्वयं सहजानन्द का अनुभव करता है ।

जैसे धान के ऊपर का छिलका उतर जाने से फिर वह (चावल का कण) बोने पर भी नहीं उगता, इसी प्रकार जीव के समस्त कर्म बन्ध छूट जाने पर, फिर नवीन कर्म बन्ध नहीं होता और इसीलिए मुक्त होने पर वह सदैव स्वाधीन निज स्वरूप ही रहता है, फिर संसार में फँसकर सुख, दुःख नहीं भोगता ।

(३) धर्म वस्तु के स्वभाव को कहते हैं, इसलिये जब कोई जीव अपने स्वभाव (शुद्ध ज्ञान चेतना रूप अमूर्तत्व भाव) को प्राप्त हो जाता है, तब उससे किसी जीव को कभी भी बाधा नहीं पहुँच सकती, इसीलिये मुक्त जीव परम अहिंसक है, क्योंकि हिंसा का हेतु शरीर अब उसके नहीं है, इसे यदि यह कहें कि अहिंसा ही धर्म है, तो भी सर्वथा ठीक है, क्योंकि स्वभाव की प्राप्ति का फल अहिंसा ही है ।

जैसे हम सुख चाहते हैं, उसी प्रकार सभी जीव सुख चाहते हैं और जैसे हमको हमारे द्रव्य (स्पर्शन, रसना, घ्राण,

चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये सब १०) और भाव (ज्ञान.दर्शन, सुख, बल आदि) प्राणों के घात होने से दुख होता है, ऐसे ही अन्य समस्त जीवों को होता है, इसलिए, जैसे हम अपने सुख के कारणों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार हमको दूसरों के सुखों के कारणों की रक्षा करनी चाहिये।

हिंसा में कभी भी धर्म नहीं हो सकता और न हिंसा करने से हिंसक या हिंस्य कोई भी सुखी हो सकता है, क्योंकि ज्यों ही कोई प्राणी किसी अन्य प्राणी की हिंसा का भाव करता है, उसी समय वह अपने सहजानन्द स्वरूप से च्युत होकर हिंसात्मक क्रिया करने के लिए आकुलित हो जाता है, तथा नाना प्रकार के साधन जुटा कर छल, बल से उसका घात करता है, तब वह मरने वाला प्राणी भी पराधीन हुआ संक्लेश भावों से मरता है और इस प्रकार हिंसक और हिंस्य दोनों ही इस लोक में दुःखी होकर संक्लेश भावों से मर कर जन्मांतरों में भी दुःखी होते हैं और कभी-कभी तो ऐसा तीव्र वैर बाँधते हैं कि अनेक जन्मों तक परस्पर घात कर करके मरते, जन्मते और दुःखी होते हैं, इसलिए कभी भी किसी जीव को सताने का विचार न करना चाहिए। कहा है—

सब जीव एक समान हैं, घट बढ़ नाहीं कोय।
पर को हिंसा जु करे, तेरी हिंसा होय ॥

(४) किसी जीव को तुच्छ समझ कर उसकी अवहेलना नहीं करना चाहिए, न ग्लानि ही करना चाहिए और न किसी जीव, को देव, शास्त्र, गुरु की सेवा से वंचित करना चाहिए। धर्म किसी वर्ण व जाति से सम्बन्ध नहीं रखता, किन्तु जो कोई भी

उसे पाले, वह उसी से सम्बन्ध रखता है। सभी देशवासी, सभी वर्ण वाले, सभी जाति के जीव धर्म का पालन सर्व कालों में कर सकते हैं, इसलिए जहाँ तक हो सके सभी को धर्म साधन करने का सुभीता देना चाहिए। कभी भी किसी को धर्म साधन करने में विघ्न न करना चाहिए। धर्म में विघ्न करने से अंतराय कर्म का आस्रव होता है।

सभी जीवों को अपनी-अपनी उन्नति करने का स्वतन्त्र अधिकार है, जब कि नित्य निगोदिया जीव (जो स्वांस-नाड़ी के फड़कने मात्र) में १८ बार जन्म मरण करता है, अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान का धारी है और सबसे सूक्ष्म शरीर वाला (जो किसी से रुकता नहीं और न किसी को रोक ही सकता है) भी अपनी उन्नति करके स्वर्ग तथा मोक्ष तक के सुखों को प्राप्त कर सकता है, तो सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य प्राणियों को धर्म के अनधिकारी बताना नितांत भूल भरा है।

(५) जिन धर्म ही वास्तविक विश्व-धर्म या सार्व धर्म है, क्योंकि यह सभी को सुख का मार्ग बताता है, सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों को, जो पूर्ण रीत्या मोक्ष मार्ग का साधन कर सकते हैं, सम्यग् रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) रूप मोक्ष मार्ग बता कर और उस में लगा कर मोक्ष के स्वाधीन सहजानन्द को प्राप्त कराता है। जो इसे पूर्ण रीत्या पालन करने में असमर्थ हैं, उन्हें देव गति (स्वर्गों आदि) के सुख प्राप्त कराता है और जो जीव हीन शक्ति वाले हैं, उनको अन्य जीवों के द्वारा अहिंसा का उपदेश करके अभय दान दिला करके सुखी करता है, इस प्रकार सब को सुख पहुँचाने वाला

यह जिन धर्म ही सार्व धर्म है। इसलिए सभी जीवों की कल्याण की भावना रख कर सभी को जिन धर्म का उपदेश देना चाहिए, जिससे सभी जीव सुखी होवें, निर्भय रहें कोई किसी का घात न करे, न किसी के जन्मसिद्ध अधिकारों को छीने. Live and let live अर्थात् जीओ और जीने दो के अकाट्य सिद्धान्त पर चलने लगें।

(६) पतित जीव भी धर्म साधन करके पावन हो सकते हैं, इसलिए पतितों को (दलितों को) भी जिन धर्म की शरण में लेकर पावन बनाना चाहिए। दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ साधु सभी दीन दुखी मनुष्य व पशु-पक्षियों तक को उपदेश देकर सम्यक्त्व तथा व्रत ग्रहण कराते हैं और समाधि मरण कराकर उत्तम गति को पहुँचाते हैं। अनेकों दयालु देव तीसरे नर्क तक जाकर नारकी जीवों को सम्बोध कर सम्यक्त्व ग्रहण कराते हैं। तीर्थंकर भगवान् के उपदेश की सभा (समवशरण) में सभी देव मनुष्य पशु आश्रय पाकर उपदेश सुनते और सद्बोधि को पाकर आत्म कल्याण करते हैं, इसलिए पापी से घृणा न करके पापों से घृणा करना चाहिये।

(७) नारी जाति भी निंद्य नहीं है, नारी ही से तो तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव, कामदेव आदि उत्तम तथा चरम शरीरी जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिए उसे निंद्य मानना या धर्माधिकार छीनना उचित नहीं है, वह गृहस्थावस्था में पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी हैं, वह भी जप, तप, व्रत, शील, संयम धर्म पालने की अधिकारिणी है, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने की शक्ति रखती हैं, इसलिए—

नारी निंदा मत करो, नारी नर की खान।
नारी से नर ऊपजैं, तीर्थंकर गुणवान ॥

(८) कर्म—जीवों की क्रिया का फल है, इसलिए वह क्रिया, जिस प्रकार के शुभ अशुभ योगों के द्वारा की जाती है, उसी प्रकार की प्रकृति स्थिति तथा फल-दान, शक्ति उनमें पड़ जाती हैं। यथा—

(१) ज्ञान का आच्छादन करने वाली प्रकृति को ज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

(२) दर्शन के आच्छादने वाली प्रकृति को दर्शनावरण कहते हैं।

(३) इन्द्रिय तथा मन को दुःख सुख देने वाली अनिष्ट इष्ट समिग्री जिस प्रकृति के निमित्त से प्राप्त होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

(४) जो प्रकृति जीव को मोहित करे (वेभान करदे) अर्थात् आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थों में अहंकार (यही मैं हूँ, ऐसी मान्यता अपने शरीर में मानना और पर के शरीर में ही पर-आत्मा की मान्यता करना) और ममकार (स्व शरीर तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले चेतन व अचेतन पदार्थों में, ये मेरे हैं तथा पर के शरीरों व उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में ये उनके हैं, ऐसी कल्पना करना) बुद्धि पैदा करे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।

वास्तव में कोई पदार्थ किसी का नहीं होता, किन्तु सभी अपने-अपने द्रव्य तथा गुण और पर्यायों रूप परिणमन करते हुए अपने-अपने ही हैं, कोई अन्य पदार्थ का नहीं है और न अन्य पदार्थ रूप कभी परिणमन ही करता है, इसलिए अपने आत्मा से भिन्न शरीरादि पर-पदार्थों में, मैं और मेरी, तू और तेरी तथा वह और उसकी कल्पना करना, (मानना) भूल है, मोह है, मिथ्या है, अज्ञान है ।

(५) किसी गति (देव, मनुष्य, पशु, नरक) संबन्धी शरीर में अमुक समय तक जीव को रोक रखने वाली प्रकृति को आयु कर्म कहते हैं ।

(६) नाना प्रकार के आकारवाले शुभ अशुभ शरीर बनाने वाली प्रकृति को नाम कर्म कहते हैं ।

(७) जिस प्रकृति के उदय से जीव नीच ऊँच कुलों में पैदा होवे, उसे गोत्र कर्म कहते है ।

(८) जिस प्रकृति के उदय से जीव इच्छित दान, लाभ, भोग, उपभोग और बल प्राप्त न कर सके, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।

ये कर्म की मूल आठ प्रकृति (स्वभाव) हैं, इनके उत्तर भेद १४८ अथवा असंख्यात है ।

जीव जैसे २ तीव्र, मन्द संक्लेश और विशुद्ध भाव करता है, वैसी २ थोड़ी या बहुत स्थिति वा फलदान-शक्ति उन कर्मों में डालता है ।

इन कर्मों को करने वाला भी जीव है और फल भी इनका वही भोगता है, इसलिये यदि वह चाहे,तो कर्म न करे, और किए हुए कर्मों को अपने पुरुषार्थ से नष्ट करके मुक्त हो जाय।

जैसे जीव इन कर्मों को करता है, प्रकृति,स्थिति, अनुभाग बनाता है,फल भोगता है और नष्ट भी कर सकता है,उसी प्रकार इनकी सजातीय प्रकृति बदल सकता है, स्थिति, अनुभाग तथा आबाधा काल घटा बढ़ा सकता है, विपाक काल से पहिले भी उदय में ला सकता है, और विपाक काल पीछे भी हटा सकता है, कर्म प्रकृतियों को फलरहित भी कर सकता है, दबा भी सकता है, तात्पर्यः– जीव का कर्मों पर सब प्रकार का अधिकार प्राप्त है।

(६) इन कर्मों से छूटने के मार्ग को ही मोक्ष मार्ग कहते हैं। वह सम्यग दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-रूप हैं, अर्थात् ये तीनों मिल कर मोक्ष मार्ग कहलाता है, पृथक् पृथक् नहीं।

(१) जो वस्तु जैसी है, उसको उसके असली स्वरूप सहित श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन (Right beleave) है, यथा अपने आत्मा को समस्त परात्माओं (अन्यजीवों) से तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश से भिन्न द्रव्यकर्म (उक्त ज्ञानावरणादिक) नोकर्म (शरीरादि) और भावकर्म (राग, द्वेष, मोहादि) से भिन्न शुद्ध ज्ञाता दृष्टा सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्तबलादि गुणों का धारी, नित्य, अविकारी, अक्षय-अनन्त एक रूप श्रद्धा करना और उससे भिन्न पदार्थों में भिन्न रूप श्रद्धा करना।

तथा इस प्रकार की रुचि उत्पन्न कराने में कारण स्वरूप, जीव, पुद्गल, (अजीव) आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों की श्रद्धा करना, तथा तत्त्वोपदेश करने वाले वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी अर्हंतदेव, मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन साधु (गुरु) और इनके द्वारा रचित शास्त्र तथा अहिंसा लक्षण वाले जैन धर्म की श्रद्धा करना, सो सम्यग्दर्शन है।

(२) संशय (संदेह), विपर्यय (उल्टा) और अनध्यवसाय (असावधानता से जानना) इन दोषों से रहित पदार्थों का स्वरूप जैसा है वैसा ही जानना, हीनाधिक रूप नहीं जानना, सो सम्यग्ज्ञान (Right Knowledge) है।

(३) अपने आत्म-स्वरूप की श्रद्धा तथा ज्ञान सहित अपने स्वरूप में निमग्न हो जाना, तथा अन्य समस्त बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं को रोक देना, अथवा स्वरूप की प्राप्ति के लिए अनुकूल यत्न (क्रिया) करना सो भी सम्यक् चारित्र (Right conduct) है।

यह सम्यक् चारित्र दो प्रकार से पाला जाता है, सकल चारित्र—साधुजनों द्वारा साध्य और विकल चारित्र—गृहस्थों द्वारा साध्य। सकल चारित्र साक्षात् मोक्ष का साधन रूप है और विकल चारित्र परम्परा से मोक्ष का साधन स्वरूप है।

हिंसा और उसके परिकर झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप सर्वथा छोड़ देना सो पञ्च महाव्रत, तथा यत्नाचार से प्रवृत्ति रूप; ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप, और व्युत्सर्ग ये पाँच समिति, मन, वचन, काय की क्रियाओं के

निरोध रूप ३ गुप्ति यह साधुजनों का १३ प्रकार का सकल चारित्र है। तथा-

उक्त हिंसादि पंच पापों का एक देश त्याग सो ५ अणुव्रत, तथा ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत-यह १२ प्रकार का विकल चारित्र गृहस्थों का है, इसका संक्षेप खुलासा इस प्रकार है:—

(१) हिंसा गृहस्थों को, आरम्भजनित (घर बनाना, आग लगाना, भोजन आदि बनाना) उद्योगजनित(आजीविका अर्थात् जीवन निर्वाह के साधनभूत द्रव्योपार्जन के लिये व्यापार, शिल्प, कृषि आदि) विरोधजनित (अपने प्राण, धन और आश्रित जनों की रक्षार्थ) यह तीन प्रकार की हिंसा यथावसर अपने २ द्रव्य क्षेत्र काल और भावानुसार करनी पड़तीहै,इसके बिना गृह-व्यवहार चल नहीं सकता और इसलिये वह इनके त्यागने में असमर्थ हैं, तो भी हिंसा से विरक्त होने पर इनको भी यथा-सम्भव कम करता है, और सर्वथा छोड़ने का विचार रखता है तथा प्रयत्न भी अपनी योग्यतानुसार करता रहता है,क्रम क्रम से घटाता जाता है।

परन्तु चौथे प्रकार की हिंसा, जिसे संकल्पी हिंसा कहते हैं, गृहस्थ हर अवस्था में त्याग सकता है। वास्तव में यही हिंसा सब से बड़ी हिंसा है, और इसके त्याग देने पर गृहस्थी का तो क्या, किन्तु राज्यप्रबन्ध का भी कोई कार्य बिगड़ नहीं सकता, बड़े २ चक्रवर्ती आदि सम्राट् भी इस हिंसा को छोड़ देने पर राज्य-कार्य भले प्रकार चला सकते हैं, इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को यह संकल्पी हिंसा कभी भी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा को सर्वथा त्याग देने और स्थावर (एकेन्द्रिय)

जीवों की तथा आरम्भी आदि तीन प्रकार की हिंसा यथासंभव कम करने अर्थात् सर्वथा न त्याग सकने के कारण, इसे अहिंसाणुव्रत कहते हैं।

संकल्पी हिंसा उसे कहते हैं, जो बिना प्रयोजन, निर्दोष प्राणियों को, नष्ट करने, विचारपूर्वक, जान करके, मनोरंजन के लिये, खाने के लिये, निशाना बेधने (शिकार) के लिये, धर्म समझ कर अपने माने हुए देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की कल्पना से, या स्वर्गादिक पाने की कल्पना करके यज्ञों के नाम से अग्नि में पशुओं को होम देने से होती है।

इस हिंसा को त्याग देने से गृहस्थों के किसी कार्य में बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि मनोरंजन के लिये संसार में अनेक प्रकार के राग, रंग, खेल तमाशे होते हैं; जिन में हिंसा बिना ही मनोरंजन होता है, कल्पित, अचेतन, स्थिर व अस्थिर पदार्थों को लक्ष्य बना कर निशाना बेधना सीखा जा सकता है। कोई भी देवी देवता बलिदान से प्रसन्न हो ही नहीं सकते। जैसे राजा अपनी ही प्रजा का घात अपनी ही प्रजा के द्वारा देख नहीं सकता, किन्तु प्रसन्नता के बदले उल्टा घातक को दण्ड देता है, उसी प्रकार देवी देवता उनके नाम पर हिंसा करने से उल्टे अप्रसन्न होते हैं, क्योंकि घाते जाने वाले प्राणी भी उनकी प्रजा हैं। प्राणियों के घात या होम से धर्म हो नहीं सकता और न घातक तथा घाता जाने वाला प्राणी भी सद्गति को पाता है, क्योंकि-

यदि किसी को किसी प्राणी के मारने में मनोरञ्जन होता है, तो किसी अन्य को उस मारने वाले के मारने में भी मनोरंजन हो सकता है, उस समय वह मारने वाला जैसे मरने से

डरता व बचना चाहता है, उसी प्रकार उस मनोरंजनार्थ घात किये जाने वाले का भाव भी समझना चाहिये। तुम को जब कुछ पीड़ा हो जाती है या कांटा लग जाता है, तब तुम को कितना दुःख होता है? ऐसा ही अन्य प्राणियों को भी समझना चाहिये। यही हाल शिकार व निशानों का है, अपने अभ्यास के लिये दूसरे दीन मूक भागते हुए पशु या उड़ते हुए पक्षियों या तैरते हुए जलचरों को मारना, उन जीवों को वैसा ही त्रास व दुख-दायक है, जैसा कि तुम को सोते, बैठे, चलते, फिरते अन्य कोई अपने तीर का निशाना बनावे। इसके सिवाय उन अचेत या डर कर भागते हुओं का पीछा करके मारना, निर्दयीपना—क्रूरता है। इसमें शूरता, वीरता नहीं; किन्तु कायरता है, क्योंकि जो स्वयं डर कर भाग रहा है, पीठ दिखाता है, मुख में तृण रखे फिरता है, वह दीन है, भयभीत है, उस की तो रक्षा कर अभयदान देना ही योग्य है। तथा देवी-देवता, फल, पुष्पादि से प्रसन्न हो जाते हैं, और स्वर्ग मोक्ष तो जप, तप, दान, संयमशील, परोपकार आदि सत्कार्यों से ही प्राप्त हो सकता है। औषधि अथवा भोजन के लिये वनस्पति संसार में विपुलता से प्राप्त होती है, खनिज पदार्थ, जल, पवन, अग्नि सूर्य की प्रभा आदि मिलते हैं, फिर व्यर्थ ही संकल्प करके प्राणियों का संहार करना घोरान्घोर पाप है—अनन्त जन्मों में दुःख देने वाला है। ऐसा जान कर कम से कम इस संकल्पी हिंसा को अवश्य ही त्याग देना चाहिये, और क्रमशः उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसाओं को भी त्याग कर साधु-मार्ग में पदार्पण कर मोक्ष मार्ग का साक्षात् साधन करना चाहिये, यही अहिंसाणुव्रत है।

---

(२)झूठ—जो बात जैसी नहीं है, वैसी कहना या जैसी है, वैसी न कहना, यही झूठ (असत्य—अलीक) कहलाता है, इसलिए गृहस्थ ऐसी झूठ न बोले तथा ऐसा सत्य भी न बोले कि,जिससे अपना व पर का घात हो जाय या किसी पर विपत्ति आजाय या किसी को वेदना पहुँचे सो सत्याणु व्रत है ।

(३) चोरी—बिना दी हुई पर की वस्तु को ग्रहण करना सो चोरी है । इसलिये गृहस्थ उन वस्तुओं के सिवाय, जिनके लेने की किसी को मनाई नहीं है, जैसेः- मिट्टी, पानी, पवन आदि के सिवाय अन्य किसी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा विना नहीं लेना व मार्ग में गिरी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई पर वस्तु नहीं लेना अथवा नहीं छुपाना वा अन्य की अन्य को नहीं देना सो अचौर्याणुव्रत है ।

(४)कुशील—स्वपाणिग्रहीता स्त्री,व स्वपति के अतिरिक्त, अन्यपरिग्रहीता व अपरिग्रहीता (वेश्यादि) स्त्री व पुरुष का सेवन करना कुशील है । और इसलिये अपनी पाणिग्रहीता व पति में ही सन्तोष करके अन्य समस्त स्त्रियों व पुरुषों के सेवन का त्याग मन,वचन,काय से करना सो शील (ब्रह्मचर्याणुव्रत) है ।

(५) परिग्रह—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड आदि बाह्य वस्तुओं में ममत्त्व रख कर आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है, इसलिये आवश्यकता के अनुसार उक्त समस्त बाह्य वस्तुओं का प्रमाण करके शेष समस्त का मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग करना तथा प्रमाण की हुई वस्तुओं में भी अतिशय गृद्धता (अति ममत्त्व) न रखना, सो परिग्रह-प्रमाण-अणुव्रत है । अब गुणव्रत बताते है ।

(१) जीवन पर्यन्त के लिए दसों दिशाओं में आने-जाने के क्षेत्र का प्रमाण करके उसकी सीमा को उल्लंघन नहीं करना, सो दिग्व्रत है।

(२) कुछ काल का प्रमाण कर के दिग्व्रत की सीमा के अन्दर आवश्यक क्षेत्र में जाने-आने का प्रमाण करना, सो देशव्रत है।

दिग्व्रत की सीमा बढ़ाई नहीं जा सकती, किन्तु देशव्रत में काल का नियम (प्रमाण) पूर्ण होने पर बढ़ाई जा सकती है, परन्तु सीमा घटाने का अधिकार दोनों को है।

(३) पाप का उपदेश न देना; हिंसा के उपकरण—शस्त्रादि माँगने पर भी नहीं देना; किसी का मन, वचन, काय से बुरा चितवन न करना; विषय तथा कषायों को बढ़ाने वाले शास्त्र न पढ़ना, न सुनना, न सुनाना; बिना प्रयोजन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि स्थावरों तथा त्रसों को घात न करना; यत्नाचार से प्रवर्तना सो अनर्थदण्ड त्याग व्रत है। अब शिक्षा-व्रतों को कहते हैं :—

(१) नित्य, प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायङ्काल में सन्धि को बीच में लेकर कम-से-कम दो-दो घड़ी (४८ मिनट) किसी एकान्त, शान्त, प्रासुक स्थान में पद्मासन या खड्गासन से स्थित होकर यथासम्भव मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकै और द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा के स्वरूप का चितवन करके, उसमें स्थिर होवै अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपातीत और रूपस्थ ध्यान करै अथवा सामायिक पाठ को बोल कर उसके भाव

पर विचार करके णमोकार मन्त्र का जाप करें। (सामायिक की विधि, 'सामायिक प्रतिक्रमणादि पाठ' में देखिये) इस प्रकार धर्म-ध्यान करना सो सामायिक व्रत है।

सामायिक व्रती अभ्यासार्थ थोड़े समय व अवकाशानुसार ३, २ या १ बार भी सामायिक कर सकता है, परन्तु तीसरी सामायिक प्रतिमा वालों को अतिचार रहित तीनों काल जघन्य दो-दो घड़ी, मध्यम चार-चार अथवा उत्कृष्ट छः-छः घड़ी शक्ति अनुसार नित्य सामायिक करना चाहिये।

(२) प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की दो-दो अष्टमी और दो-दो चतुर्दशी इन चार पर्वों में उत्तम, मध्यम या जघन्य प्रोषधोपवास करना और १६ पहर धर्म ध्यान में बिताना, सो प्रोषधोपवास व्रत है। इसका निरतिचार पालन चौथी प्रतिमा में होता है।

(३) परिग्रह में किए हुए प्रमाण के अन्दर यम (जीवन पर्यन्त के लिए) या नियम (कुछ समय के लिए) रूप भोगोपभोग के पदार्थों की संख्या नियत कर शेष का त्याग कर देना, सो भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

इसके लिए नीचे लिखी १७ बातों तथा अन्य ऐसी ही बातों का नियम करना चाहिये कि मैं इतने (समय का नियम करके) दिन तक नित्य, इतने बार (जितना रखना हो) भोजन करूँगा, इतने बार पान करूँगा, इतने रस (दूध, दही, घी, नमक, मीठा, तैल) लूंगा, इत्यादि इसी रीति से गन्धलेपन,

पुष्प, ताम्बूल, गीत, नृत्य, स्वदार सेवन, स्नान, वस्त्र, आभूषण, वाहन, शयन, आसन, सचित्त वस्तु तथा अन्य वस्तुओं का प्रमाण करके शेष का त्याग देना चाहिये। स्मरण रहे कि काल के नियम के भीतर भोगोपभोग के पदार्थ घटाए जा सकते हैं, परन्तु बढ़ाए नहीं जा सकते, काल का प्रमाण पूर्ण होजाने के बाद बढ़ा सकते हैं।

(४) जो शुद्ध प्रासुक भोजन विधिपूर्वक अपने व अपने कुटुम्बादि के लिये तैयार किया गया है, उसी में से अपने पुण्योदय से प्राप्त हुए मुनि-आर्यिका, एल्लक-क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, त्यागी, संयमी जनों को भक्तिपूर्वक आहार करा कर पीछे आप करना, सो अतिथि समविभाग व्रत है।

यदि ऐसे सत्पात्र न मिलें, तो दीन, दुःखी मनुष्य व पशु-पक्षियों आदि को करुणा भाव से दान करना चाहिये।

भक्तिदान में सुपात्र, कुपात्र, अपात्र का विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भक्ति सुपात्रों में ही हो सकती है, कुपात्र और अपात्रों में नहीं होती। किन्तु करुणादान में तो जिसे देख कर दया-भाव उत्पन्न हो जावे, उसको भोजन, वस्त्र, औषधि, आश्रयादि देकर दुःख मिटाने का यत्न करना चाहिये।

इस प्रकार उपदेश करते हुए भगवान् महावीर प्रभु ७२ वर्ष की आयु पूर्ण करके पावापुरी के उद्यान में पधारे और कार्तिक बदी १३ को (जिसे धनतेरस कहते हैं) योग निरोध किया अर्थात् योगों का स्थूल परिणमन रुक कर सूक्ष्म हो गया, समवशरण बिघट गया, विहार तथा उपदेश देना आदि बन्द होगया। पश्चात् —

कार्तिक कृष्णा ३० अमावस्या के प्रातःकाल शेष अघाति कर्मों की भी निर्जरा करके सिद्धपद (मोक्ष) को प्राप्त होगए।

इसी समय प्रभु की सभा के प्रथम गणनायक गौतम स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

इसलिये एक साथ दो उत्सव उस समय सुर, नरों ने मिल कर किए और तभी से इस पर्व का नाम दिवाली पड़ा, जिसे आज तक भारतवासी बड़े उत्साह से मनाते चले आ रहे हैं।

❀ इति महावीरचरित्रम् ❀

अथ श्रीमहावीर स्वामी पूजा

अच्युत स्वर्ग त्याग कर आए, त्रिशला माता गर्भ मँझार।
कुंडपुरी सिद्धारथ नृप सुत: भए वीर तुम जगदाधार॥
वय कुमार दीक्षा दैगम्बर, ले दुद्धर तप कियो अपार।
केवल लहि भवि भव-सर तारे, कर्म नाश भये शिव-भर्ता॥१॥

नाथ वंश नायक हरी-लक्षण चरम जिनेश।
आय तिष्ठ मम हृदय में, काटो कर्म कलेश॥२॥

ॐ ह्रीं श्री महावीरस्वामिन् अत्रावतरावतर संवौषट् (इत्याह्वानम्)
ॐ ह्रीं श्री महावीरस्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (इति स्थापनम्)
ॐ ह्रीं श्री महावीरस्वामिन् अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्
(इति सन्निधिकरणम्)

अथाष्टकम् ।

मणिझारी प्रासुक जल लाय, पूजत जन्म जरा मृतु जाय ।

जगद्गुरु हो, जय जगनाथ जगद्गुरु हो ।

पूजूं वीर महा अति वीर, वर्द्धमान सन्मति गुणधीर ।

जगद्गुरु हो. जय जगनाथ जगद्गुरु हो ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

केशर सँग चन्दन घिसवाय, पूजत भव-आताप नशाय, जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने सुगन्धं निर्वपामीति० ।

मुक्ता-फल सम अक्षत लाय, पूजत जिन, अक्षय पद पाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिनेऽक्षतं निर्वपामीति० ।

सुर तरु सम शुचि सुमन मँगाय । पूजत मन्मथ जाय-नशाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरजिनेभ्यः पुष्पं निर्वपामीति० ।

शुचि नैवेद्य सद्य बनवाय, पूजत क्षुधा रोग मिट जाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने नैवेद्यं निर्वपामीति० ।

बाती घृत कपूर जराय । आरति करत मोह-तम जाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने दीपं निर्वपामीति० ।

धूप सुगन्ध दशों दिशि छाय । खेवत अष्ट कर्म जर-जाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने धूपं निर्वपामीति० ।

घ्राण नयन रसना सुखदाय। फल से पूजूं अमर फल पाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने फलं निर्वपामीति० ।

अर्घ किये वसु द्रव्य मिलाय, पूजत आवागमन नशाय ॥ जगद्गुरु हो ॥ पूजूं वीर० ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिनेऽर्घं निर्वपामीति० ।

पंच कल्याणक।

दोहा—सुदि अषाढ़ षष्ठी तिथी, त्रिशला गर्भ मँझार।
आए अच्युत स्वर्ग तज, हर्षे सुर नर-नारि ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अषाढ़शुक्लषष्ठ्यां श्रीमहावीरस्वामिने गर्भमंगलप्राप्तायार्घं निर्वपामीति० ।

चैत्र सुदी तेरस तिथी, जगजीवन सुखदाय ।
वीर जन्म उत्सव कियो, सुरपति गिरिपति जाय ॥२॥

ॐ ह्रीं चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां श्रीमहावीरस्वामिने जन्ममंगलप्राप्तायार्घं निर्वपामीति० ।

मगसिर वदि दशमी लखे, जग-तन-भोग असार ;
नए आए तब देव ऋषि, वीर लियो तप धार ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं मार्गशीर्षकृष्णदशम्यां श्रीमहावीरस्वामिने तपोमंगलमण्डितायार्घं निर्वपामीति० ।

सित वैशाख दशमिं किये, घात घाति, अरि वीर ।
केवल लहि दे देशना, हरी जगत जिय पीर ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं वैशाखशुक्लदशम्यां श्रीमहावीरस्वामिने केवलज्ञानप्राप्तायार्घं निर्वपामीति० ।

बदी अमावस कार्तिकी, दीपावली कहाय।
पावा वन हन शेष विधि, भए भुवन त्रय राय ॥५॥

ॐ ह्रीं कार्तिककृष्णामावस्यायां श्रीमहावीरस्वामिने मोक्षपदप्राप्तायार्घं निर्वपामीति०।

दोहा—काल चतुर्थ के अंत भए, वीर चरम तीर्थेश।
गाऊँ तिन गुणमालिका, जगहित सुख सन्देश ॥ १ ॥

सोरठा—सब द्वीपन सरदार, जम्बू नामा द्वीप में।
दक्षिण भरत मँझार, आरज खंड सुहावनो ॥ २ ॥
ताके मगध प्रदेश, कुण्डनगर शोभा लहै।
तहँ सिद्धार्थ नरेश, पालहिं परजा प्रीति से ॥ ३ ॥

पद्धड़ी छन्द—

तिस नृप महिषी त्रिशला महान, अति रूपवती गुणगणनिधान। तिन गृह पट् मास अगाऊ सार, सुर रत्नवृष्टि कीनी अपार ॥ ४ ॥ इक दिवस रैन पिछली मँझार, शुभ सोल स्वप्न रानी निहार। जागी पुनि कर मङ्गल सनान, जा पति समीप कीनों बखान ॥ ५ ॥ सुन नृपति अवधि से फल विचार, कहि चरम तीर्थंकर तव कुमार। होसी सुन है मन मुदित मात, जाने नाहीं नव मास जात ॥ ६ ॥ शुभ चैत्र शुक्ल तेरस विख्यात, जन्मे ता दिन श्री जगतनाथ। सुरगिरि तव मघवा न्हवन कीन, पहिराये वसनरु भूषण नवीन ॥ ७ ॥ पुनि सौंपे पितु कर हर्ष धार, सुर ताण्डव नृत्य कियो अपार। यों जन्मोत्सव आनंदकार, करि सुरि नर गए निज थान सार ॥ ८ ॥

सो दोज चन्द्रवत् बढ़ैं वीर, गुण-बल-विद्या-पुरुषार्थ-धीर। उस समय धर्म का नाम धार, दुठ करते पशु जीवन संहार ॥ ९ ॥ सब दिशि दुखदायक चीतकार, हा रही सुनत नहिं कोइ पुकार। अरु शूद्र वर्ण को पशु-समान, गिन ग्लानि करैं अभिमान ठान ॥ १० ॥ इत्यादि होत लख अनाचार, कम्पे हिय में सन्मति कुमार। तब तुरत हिये वैराग्य धार, जग काम-भोग जाने असार ॥११॥ थिर नाहिं जगत में वस्तु कोय, नहिं पतित जीव को शरण कोय। नहिं सुखो जगत में कोई जीव, इकला सुख-दुख भोगै सदीव ॥ १२ ॥ तन भी नहिं निज तब कौन और ? तन अशुचि अपावन रोग-ठौर। कर अथिर योग आस्त्रव करेय, जो धरै गुप्तित्रय, रोक देय ॥ १३ ॥ तप संयम से विधि को खपाय, तो त्रिभुवन में फिर नहिं भ्रमाय सब सुलभ बोधि दुर्लभ अपार, सद्धर्म सदा सुख दैनहार ॥ १४ ॥ जग में उन जीवन को धिक्कार, जो धर्म गिनत प्राणी संहार। तातैं तप संयम ब्रत्त धार, अरि रहस आवरण करूँ छार ॥ १५ ॥ दृग सुख बल ज्ञान अनंत पाय, सन्मारग सबको दूं बताय। इम चिंतत ही सुर ऋषी आय, थुति कर वैराग्य दियो दिढ़ाय ॥ १६ ॥ तब तीस वर्ष की वय कुमार, सिद्धों को करके नमस्कार। तप नग्न कियो बारह प्रकार, प्रभु द्वादश वर्ष सु मौन धार ॥ १७ ॥ पुनि क्षपक-श्रेणि आरूढ़ होय, घन घाति चतुष्टय दिये खोय। दृग बल अनन्त सुख ज्ञान धार, सब देशन में करके विहार ॥ १८ ॥ बिन भेद भाव उपदेश कीन, दलितन ;पतितन आश्रय सु दीन। अरु धर्म अहिंसा धुज प्रसार, निर्भय कीने जग जिय अपार ॥ १९ ॥ पुनि

सम्यक् दृग व्रत ज्ञान जोय, मिल तीनों शिव-मग कहे सोय। तत्वार्थ तथा आतम श्रद्धान, जो धरै सोई सम्यक्त्ववान ॥ २० ॥ ता सहित ज्ञान चारित्र धार, लघु पावै विधि हर मोक्ष द्वार। चारित्र बतायो दो प्रकार, अनगार सकल, विकलहिं सगार ॥ २१ ॥ इम देत देशना कर पयान, आए पावापुरि के उद्यान। कार्तिक वदि मावस भइ प्रसिद्ध, जा दिन पाई प्रभु मोक्ष-ऋद्धि ॥ २२ ॥ ताही दिन गौतम गणी सार, पाई केवल-निधि घाति टार ॥ दो उत्सव सुर नर किये आय, सो दिवस दिवाली जग मनाय॥२३॥

दोहा—

जग-हित कर निज-हित कियो, 'दीप' चरम जिनराय।
मैं हूँ तिन पद आश धर, पूजूं अर्घ चढ़ाय ॥ २४ ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिनेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल—जो गावै गुण वीर हर्ष उर धारिके, पूजैं शक्ति प्रमाण द्रव्य वसु लायके। सो पावै सुर सौख्य बहुरि नर-भव धरै, तप-संयम आराध 'दीप' शिव-तिय वरै ॥

इत्याशीर्वाद।

श्री गौतम स्वामी पूजा।

कुण्डलिया—इन्द्र-प्रश्न तैं कोप कर, आये तुम, ढिंग वीर।
मान खोय पायन परे, धारी दिक्षा धीर॥
धारी दीक्षा धीर, दिगम्बर रूप बनायो।
सम्यक् संयम धार, ज्ञान मनपर्यय पायो॥

वानी झेली वीर की, गूँथी द्वादश अङ्ग।
सभा मांहि वर्णन करी, स्याद्वाद सत भंग॥

सोरठा—ब्रह्म स्वर्ग तें आय, विप्र वर्ण में जन्म ले।
लह्यो बोधि सुखदाय, हरण अविद्या जगत की॥

दोहा—इन्द्रभूति शुभ नाम तुम, और गौतमी वंश।
शिष्य होय अतिवीर के, कर्म किये विध्वंस॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिन् अत्रावतरावतर संवौषट् (इत्याह्वाननम्)
ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनम्)
ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिन् अत्र मम सन्निहतो भव भव वषट्
(सन्निधिकरणम्)

अथाष्टकम्।

प्रभाती राग—कंचन भृङ्गार भरी, प्रासुक जल लाई। जन्म-जरा-मरण हरण गौतमहिं चढ़ाई। वन्दूं गौतम गणेश, योग त्रय लगाई: जा प्रसाद वीर-धर्म देशना लहाई॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

मलयागिरि चंदन सँग केशर घिस लाई। भवाताप दूर हरन गौतमहिं चढ़ाई॥ वन्दू गौतम०॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिने भवातापविनाशनाय चन्दनम्।

मुक्ताफल सदृश तन्दुल अखंड लाई। अक्षय-पद प्राप्ति-हेतु गौतमहिं चढ़ाई॥ वन्दूं गौतम गणेश०॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिनेऽक्षयपदप्राप्तयेऽक्षतम्।

सुरद्रुम सम सुन्दर सुगन्धि सुमन लाई । मनमथमद-रण-हेतु गौतमहिं चढ़ाई ॥ पूजूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिने कामवाणविध्वंसनाय पुष्पम् ।

तटका चरु इष्ट मिष्ट प्रासुक शुचि लाई । क्षुधा-व्याधि-नाश करन गौतमहिं चढ़ाई ॥ अर्चूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगणधराय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यम् ।

ज्योती कर्पूर दीप कनक जगमगाई । मोह-तिमिर-हरण चरण गौतमहिं चढ़ाई ॥ अर्पूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगणेशाय मोहतमोविनाशनाय दीपम् ।

धूप खेऊँ दश अङ्गी दश दिश महकाई । कर्म-अरि दग्ध होय गौतमहिं चढ़ाई ॥ पूजूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगणेशाय अष्टकर्मदहनाय धूपम् ।

श्रीफल पुंगी बदाम जायफल सुहाई । शिव-फल के प्राप्ति हेतु गौतमहिं चढ़ाई ॥ पूजूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगुरवे मोक्षफलप्राप्तये फलम् ।

यह त्रिधि वसु द्रव्य हेम-थाल में भराई । अनर्घ पद प्राप्ति-हेतु गौतमहिं चढ़ाई ॥ पूजूं गौतम गणेश० ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमगणनायकाय अनर्घपदप्राप्तयेऽर्घम् ।

दोहा—गुरु गौतम के पद-कमल, बन्दूं मन, वच, काय।
कहूँ तास गुण-मालिका, भवि जीवन सुखदाय॥

* चौपाई *

जम्बू द्वीप द्वीपन सरदार। जोजन लक्ष तासु विस्तार॥
भरतक्षेत्र दक्षिण दिशि जास। तामें आर्य खंड सुखरास॥
मगध देश ता मांहि प्रधान। तामें ब्राह्मणपुरी सुजान॥
तहां विप्र शांडिल्य रहाय। नारि स्थंडिला अति सुखदाय॥
ब्रह्म स्वर्गतें चय कर सार। आये ताके गर्भ मँझार॥
नारद(नव)मास पूर्ण जब भये। शुभ तिथि लग्न जन्म तुम लये॥
सुनत वृत्त सब जन सुख पाय। इन्द्रभूति शुभ नाम धराय॥
द्वितिय नाम गौतम विख्यात। अग्नि-वायुभूती तुम भ्रात॥
तर्क, छन्द, काव्यालंकार। शब्द, शास्त्र, सामुद्रिक सार॥
ज्योतिष वैद्यक,गणित विचार। शस्त्र-शास्त्र संगीत अपार॥
पढ़े वेद वेदान्त जु होय। भ्रातन सह लघु वय में सोय॥
शतक पाँच तुम शिष्य महान। सब विद्या तुम कलानिधान॥
यासे बढ़ो तुम्हें अभिमान। मैं अनन्य जग में विद्वान॥
पर विधिको न रुचो यह मान। कारण तबहिं बन्यो कछु आन॥
चरम तीर्थकर्ता भगवान। सन्मति कर्म घातिया हान॥
दर्श ज्ञान सुख वीर्य अनन्त। केवल लब्धि लही भगवन्त॥
इन्द्र हुकम से धनपति आय। समवशरण रचियो सुखदाय॥
पहर एक तक खिरी न बान। कारण इन्द्र अवधि से जान॥
बृद्ध विप्र को भेष बनाय। पूछे प्रश्न आप ढिंग जाय॥
द्विविध धर्म दीजे समभाय। तीन काल को भेद बताय॥
कितने द्रव्य कर्म वसु काय। तत्त्व पदार्थ बताओ मोय॥
लेश्या, काम, काल कै गती। अङ्ग पूर्व श्रुत भाषो मती॥
इन्द्र-प्रश्न इम पूछे जबै। उत्तर बन्यो न तुमसे तबै॥

तब तुम तासों कह्यो रिसाय । तुझसे हम क्या वाद कराय ॥
अपने गुरू पास ले चलो । वहीं करूँगो उत्तर भलो ॥
इन्द्र हर्ष कर ले तुम साथ । गयो वहाँ जहँ सन्मतिनाथ ॥
समवशरण तहँ जिन का देख । मान-हरन मदथंभहिं पेख ॥
मिथ्या मान तबहिं छुटकाय । जाय नमैं तुम सन्मति पाय ॥
कर थुति दैगम्बर व्रत धरा । सम्यक् संयम तप आदरा ॥
ता प्रभाव मनपर्यय ज्ञान । लह झेली जिनवर की बान ॥
सर्व संघ नायक परधान । तुम गौतम गणधर भगवान ॥
कृष्ण अमावस कार्तिक मास । प्रातःकाल जगत सुखरास ॥
तब गुरु महावीर भगवान । पावा वन पाई निर्वान ॥
तब तुम चार घाति घन हान । ततक्षण पायो केवल ज्ञान ॥
सुर,नर,खग मिल उत्सव होय । किये चित्त आनन्दित होय ॥
तबसे भयो दिवाली पर्व । जगत जीव माने तज गर्व ॥
पुनि तुमने प्रभु कियो विहार । संबोधे भव-जीव अपार ॥
आये जबहिं गुनावा थान । शेष कर्म तहँ कीने हान ॥
समय एक में शिव थल जाय । अपने रूप भये सुखदाय ॥
तहाँ सुखी स्वाधीन अपार । विलसो आवागमन निवार ॥
नित्य निरंजन अक्षय रूप । भये सिद्ध तुम त्रिभुवन भूप ॥
वर्णी 'दीप' आश यह करै । जबलौं कर्म-शत्रु नहीं हरै ॥
तब लग जिनवर तुम्हरो धर्म । पावै, फेर नाश सब कर्म ॥
अविनाशी अविकल पद पाय । अपने रूप आप होउँ जाय ॥

सोरठा—वीर लही निर्वाण, गौतम केवल ज्ञान लह ।
किये जगत-कल्याण, 'दीप' फेर शिवपुर गये ॥

ॐ ह्रीं श्रीगौतमस्वामिनेऽर्घम् ।

दोहा—वर्द्धमान के तीर्थ में, गौतम गणधर सार।
मंगलकारी लोक में, उत्तम शरणाधार॥
'दीप' गुनावा जाय के, जो नर पूज रचाय।
सो सुर, नर सुख भोग के, शिवपुर वास कराय॥
इत्याशीर्वाद।

श्री सरस्वती-पूजन।

वीतराग सर्वज्ञ हितंकर भाख्यो वाणी दिव्य मँझार।
सो सत्यागम हरन मोह-तम द्वादशांग भाख्यो गणधार॥
पूर्वापरविरोध नहिं जामे, मिथ्यैकांत-नशावन हार।
तत्त्वारथ परकाशक रवि सम, सब जीवोंको सुखकरतार॥

दोहा—जिनवर भाषित जो गिरा, गणपति गूंथित सार।
सो सरसुति मम उर वसो, करो अविद्या छार॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांगश्रुतज्ञानरूप-सरस्वतीदेवि अत्रावतरावतर संवौषट् (आह्वाननम्)।

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांगश्रुतज्ञानरूप-सरस्वतीदेवि अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनम्)

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशांगश्रुतज्ञानरूप-सरस्वतीदेवि अत्र मम सन्निहिता भव भव वषट् (सन्निधिकरणम्)

अथाष्टकम्।

शुचि नीर छान लाऊँ, कंचन कलश भराऊँ; जामन मरण मिटाऊँ श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ॥ पूजूँ जिनेश वाणी, गणपति हृदय समानी, अङ्ग पूर्व जो बखानी, अनेकांत सुख प्रदानी॥ १॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्‌भूतस्याद्वादनयगर्मितद्वादशांगश्रुतज्ञानरूप-सरस्वतीदेव्यै जन्म-जरा-मृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

चंदन अगुरु मँगाऊँ, केशर सहित घिसाऊँ, भव-ताप को नशाऊँ श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ । पूजूं जिनेश बाणी० ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्‌भूतसरस्वतिदेव्यै चंदनम् ।

तंदुल अखंड लाऊ, कर पुंज शीस नाऊँ, ज्यों पद अखय लहाऊ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ अक्षतम् ॥ मणि मय करंड लाऊँ, सुन्दर सुमन भराऊँ । मन्मथविथा नशाऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ पुष्पम् ॥ शुचि सद्य चरु बनाऊँ,भर हेम थाल लाऊँ । गद छुधाको नशाऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ नैवेद्यम् ॥ मणि हेम दीप लाऊँ, कपूर घृत जराऊँ, तम मोह को भगाऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ दीपम् ॥ दहनार्थ धूप लाऊँ, परिमल सब दिशि उड़ाऊँ, खेय अष्ट विधि जराऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ धूपम् ॥ फल सुरतरू सम लाऊँ, कनक थाल में सजाऊँ, पूज शिव पदवी पाऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश० ॥ फलम् ॥ वसु द्रव्य सब सजाऊँ, गुण दर्प हर्ष गाऊँ, जज पद अनघे पाऊँ, श्रुत शारदहिं चढ़ाऊँ ॥ पूजूं जिनेश ॥ अर्घम् ॥

जयमाला ।

दोहा—जा श्रुत सिन्धु नहाय से, होत स्व-पर विज्ञान ।
ज्ञान-चरण हों आप में, सो श्रुत तीर्थ प्रधान ॥
सो श्रुत सिन्धु अगाध है, गणी न पावें पार ।
तसु जयमाला भक्तिवश, कहत स्वल्प बुध सार ॥

केशरी छन्द-

लोक अनादि अनन्त बखाना, काल अनन्तानन्त प्रमाना।
व्यय उत्पाद ध्रौव्य मय जानो, षट द्रव्यन को है यह थानो ॥१॥
लोक काल सम वृष सुखदाता, आदि अन्त बिन जग विख्याता।
सागर कोटाकोटि अठारा, भोग भूमि या क्षेत्र मँझारा ॥ २ ॥
रही, रहो नहीं वृष शिवकारा, सो आदीश्वर कियो प्रचारा।
सो ही कह्यो शेष तीर्थेशा, अन्त भये अति वीर जिनेशा ॥३॥
तिन पीछे गणि गौतम स्वामी, भये सुधर्मा जम्बू स्वामी।
सो भी पाकर केवल ज्ञाना, उसी भाँति जिन धर्म बखाना ॥ ४ ॥
द्वादश अङ्ग-प्रविष्ट गिनाये, अङ्ग बाह्य शेषान्तर गाये।
अनेकांत जो वस्तु स्वरूपा, साध्यो स्याद्वाद जिन भूपा ॥ ५ ॥
सो जिन वच सरसुती कहाई, वेद पुराणन ऋषि मुनि गाई।
कुनय एकान्त नशावन हारी, मिथ्या द्रुम को तीक्ष्ण कुठारी ॥६॥
पूर्वा-पर न विरोध दिखावै, तत्त्वारथ सत्यार्थ बतावै।
सबकी हितु सबको सुखदाई, सो जिन-गिरा सरस्वती गाई ॥७॥
हंसवाहनी वीणावारी, पुस्तक पिच्छ कमण्डल धारी।
नहीं सरस्वती देवी कोई, कल्पित मूर्ति दिखै जग जोई ॥ ८ ॥
तातैं निश्चय यह जिनवानी, जानो सरसुति मात कल्यानी।
कर उपासना याकी भाई, सम्यग् बोधि लहो सुखदाई ॥ ९ ॥
'दीप' विकट कछु काल मँझारी, करके अष्ट कर्म रिपु क्षारी।
करो जाय शिवपुर में वासा, जहँ भोगोगे सुख अविनाशा॥१०॥

जिन-हिमगिरि से नदि गिरा, मोह महाचल भेद।
निकस भरी गणि हृदय सो, करो अविद्या छेद ॥अर्घं॥
जो सेवे जिन शारदा, सो लह केवल ज्ञान।
शेष कर्म सब हान के, जाय बसे शिव-थान ॥
॥ इत्याशीर्वाद ॥

श्री निर्वाण-क्षेत्र-पूजा

अडिल्ल छन्द—नमों आदि चौबीस तीर्थंकर सारजू।
अरु असंख्य सामान्य केवली धार जू॥
जिह् जिह् थानक कर्म किये तिन क्षारजू।
भूमि नमों सो, सिद्धि हर्ष उर धार जू॥१॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्राणि अत्र अवतरत अवतरत संवौष्ठ।
ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्राणि अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः।
ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्राणि अत्र मम सन्निहितानि भवत भवत वषट्

अथाष्टकम्

भव क्षीर सागर नीर निर्मल, छान प्रासुक कीजिये।
जन्म-मृत्यु विनाश कारण, धार प्रभु ढिंग दीजिये॥
गिरिवर शिखर गिरनार चंपा पावापुरि कैलाश जी।
इत्यादि सब निर्वाण भूमी, जजूं मन हुल्लास जी॥१॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा।

केशर, कपूर, सुगन्ध, चन्दन, सलिल सँग घिस लाइए।
संसार-तापविनाशकारण, प्रभु समीप चढ़ाइए॥
गिरिवर शिखर० ॥२॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्यः सुगन्धं निर्वपामीति स्वाहा।

तन्दुल अखण्डित धोय निर्मल, शुद्ध जल सों लीजिए।
अखय पद के कारणे, भवि! पुञ्ज सन्मुख कीजिए॥
गिरिवर शिखर० ॥३॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्योऽक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।

पङ्कज, जुही, चम्पा, चमेली, मोगरा सु गुलाब सों।
मदन बान विनाशकारण, जजूं प्रभु बहु चाव सों॥
गिरिवर शिखर० ॥४॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्य: पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

बहु मिष्ट नीका पक्व घी का, इष्ट षट् रस संयुतं।
क्षुधा-रोग विनाशकारण, जजूं प्रभु-पद कर नुतं॥
गिरिवर शिखर० ॥५॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्यो नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

कर्पूर.घृत, बाती सँजोकर, हेम दीपक में धरूँ।
मोह-तम विध्वंसकारण, आरती सन्मुख करूँ॥
गिरिवर शिखर० ॥६॥

ॐ ह्रीं समस्तनिर्वाणक्षेत्रेभ्यो दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

धूप दश अङ्गी सुगन्धित, अग्नि माँहि जलाइए।
अष्ट विधि-रिपुदहनकारण, भावना उर भाइए॥
गिरिवर शिखर० ॥७॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्यो धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

नारंगि, दाडिम, नारियल, बादाम, पुङ्गी लीजिए।
मोक्ष फल के हेतु, भवि-निर्वाण भूमि जजीजिए॥
गिरिवर शिखर० ॥८॥

ॐ ह्रीं समस्तनिर्वाणक्षेत्रेभ्य: फलं निर्वपामीति स्वाहा।

जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, चरु ले दीप, धूप फला सही।
अनर्घ पद की प्राप्त करके, नित जजूं सब सिध मही॥
गिरिवर शिखर, गिरनार चम्पा, पावापुरि कैलाश जी।
इत्यादि सब निर्वाण-भूमी, जजूं मन हुल्लास जी॥९॥
ॐ ह्रीं समस्तनिर्वाणक्षेत्रेभ्योऽनर्घपदप्राप्तयेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ जयमाला

दोहा—सिद्ध जिह क्षेत्र थकी प्रभू, किए कर्म वसु चार।
ते सब पावन क्षेत्र मैं, बन्दूँ बारम्बार ॥१॥

* पद्धड़ी छन्द *

जय ऋषभ नमों कैलाश सार। गिरिनार नेमि विधि दिए जार ॥
चम्पापुर विधि हर वासुपूज्य। पावापुरि सन्मति भए पूज्य ॥२॥
अवशेष बीस तीर्थेश जान। सम्मेद शिखर लहि मोक्ष थान ॥
तारङ्गा पावागढ़ महान। शत्रुंजय गजपन्था बखान ॥३॥
सोनागिरि माँगीतुंग सार। रेवा-तट सिध वर कूट धार ॥
गिरि चूल नदी चलना विख्यात। द्रौणागिरि मेढ़गिरी प्रख्यात॥४।
कुन्थल गिरि कोटिशिला महान। रेशंदी पावागिरि बखान ॥
पटना मथुरा चौरासि जान। अहि-राज, गुनावा थान मान ॥५॥
इन आदि और जे सिद्धि थान। जहँ जहँ कीने प्रभु कर्म-हान ॥
अथवा जे अतिशय क्षेत्र सार। तेहू बन्दूँ उर हर्ष धार ॥६॥
जो करि विशुद्धि बन्दै जिनाय। सो नरक पशू गति नहिं लहाय ॥
सुर नर में ऊँच कुलीन होय। लह ऋद्धि-सिद्धि सम्पत्ति सोय ॥७
इम सुर-नर के सुख भोग सार। अनुक्रम शिव-सुख पावैं अपार ॥
मैं हूँ यह भावन भाय ईश। रत्नत्रय निधि याचूं मुनीश ॥८॥
प्रभु! मैं अनादि भवदधि सँझार। बहु रुल्यो। कृपानिधि! करो पार ॥
अरु जब लग होय न कर्मनाश। तब लग रहुँ प्रभु, तुम चरणदास ॥

यह विधि कर पूजा भक्ति भाय। निज धन्य लखै उर हर्ष लाय ॥
मतिमन्द नाथ! सुत दीपचन्द। शरणे आयो हर कर्म फन्द ॥१०॥

छंद-जो भविजन वन्दै मन आनन्दै, तीर्थ क्षेत्र निर्वाण सही।
तं सुर नरिंद्र सम्पति-सुख विलसै, अनुक्रम पावै मोक्ष मही ॥११॥

ॐ ह्रीं समस्तसिद्धक्षेत्रेभ्योऽनर्घपदप्राप्तयेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

जो बाँचै यह पाठ हर्ष मन लायकें।
जजै द्रव्य वसु लाय प्रभू गुण गायके॥
भावै भावन नित्य ध्यान जिनका करे।
सुर नर के सुख भोग अनुक्रम शिव वरे॥१२॥

आशीर्वाद।

निर्वाणकांड-

दोहा—वीतराग बन्दौं सदा, भाव सहित सिर नाय।
कहूँ काण्ड निर्वाण की, भाषा सुगम बनाय॥

* चौपाई *

अष्टापद आदीश्वर स्वामी। वासुपूज्य चम्पापुर नामी॥
नेमिनाथ स्वामी गिरनार। बन्दौं भाव भगति उर धार॥२॥
चरम तीर्थंकर चरम शरीर। पावापुरि स्वामी महावीर॥
शिखर संमेद जिनेसुर बीस। भाव सहित बन्दौं निस दीस॥३॥
वरदत्तरायरु इन्द मुनिन्द। सायरदत्त आदि गुण वृन्द॥
नगर तार वर मुनि उठ कोड़ि। बन्दौं भाव सहित कर जोड़॥४॥
श्री गिरनार शिखर विख्यात। कोड़ि बहत्तर अरु सौ सात॥
संबु प्रद्युम्न कुमर द्वय भाय। अनिरुध आदि नमूं तसु पाय॥५॥
रामचन्द्र के सुत द्वय वीर। लाड़ नरिंद आदि गुण धीर॥
पाँच कोड़ि मुनि मुक्ति मंझार। पावागिरि बन्दौं निरधार॥६॥

पांडव तीन द्रविड़ राजान। आठ कोड़ि मुनि मुकति पयान ॥
श्री शत्रुंजय गिरि के शीस। भाव सहित वंदों निश दीस ॥७॥

जे बलभद्र मुकति में गये। आठ कोड़ि मुनि औरहिं भये ॥
श्री गजपंथ शिखर सु विशाल। तिनके चरण नमूं तिहुँ काल॥८॥

राम हनू सुग्रीव सुडील। गव गवाख्य नील महानील ॥
कोड़ि निन्यानवै मुक्ति पयान। तुङ्गी गिरि वंदों धरि ध्यान ॥९॥

नंग अनंग कुमार सुजान। पांच कोड़ि अरु अर्ध प्रमान ॥
मुक्ति गये सोनागिरि शीस। ते वंदों त्रिभुवनपति ईश ॥१०॥

रावण के सुत आदि कुमार। मुक्ति गये रेवा तट सार ॥
कोड़ि पाँच अरु लाख पचास। ते वंदों धरि परम हुलास ॥११॥

रेवा नदी सिद्ध वर कूट। पश्चिम दिशा देह जहँ छूट ॥
द्वय चक्री दश काम कुमार। ऊठ कोड़ि वंदों भवपार ॥१२॥

बड़वानी बड़नयर सुचंग। दक्षिण दिशि गिरि चूल उतंग ॥
इन्द्रजीत अरु कुम्भ जु कर्ण। ते वन्दों भव सायर तर्ण ॥१३॥

सुवरण भद्र आदि मुनि चार। पावागिरि वर शिखर मँझार ॥
चेलना नदी तीर के पास। मुक्ति गये वंदों नित तास ॥१४॥

फल होड़ी बड़ गाम अनूप। पश्चिम दिशा द्रोणगिरि रूप ॥
गुरुदत्तादि मुनीसुर जहाँ। मुक्ति गये वंदों नित तहाँ ॥१५॥

बाल महा बाल मुनि दोय। नाग कुमार मिले त्रय होय ॥
श्री अष्टापद मुक्ति मँझार। ते वंदों नित सुरत सँभार ॥१६॥

अचलापुर की दिश ईशान। तहाँ मेढ़गिरि नाम प्रधान ॥
साढ़े तीन कोड़ि मुनिराय। तिनके चरण नमूं चित लाय ॥१७॥

वंसस्थल वन के ढिंग होय। पश्चिम दिशा कुंथगिरि सोय ॥
कुलभूषण दिशभूषण नाम। तिनके चरणनि करूँ प्रणाम ॥१८॥

जसरथ राजा के सुन कहे। देश कलिंग पाँच सौ लहे ॥
कोटि शिला मुनि कोटि प्रमान। वंदन करूँ जोर जुग पान ॥१९॥

समवशरन श्री पार्श्वजिनंद। रेसंदी गिरि नयनानन्द ॥
वरदत्तादि पंच ऋषिराज। ते वंदों नित धरम जिहाज ॥२०॥

तीन लोक के तीरथ जहाँ। नित प्रति वंदन कीजे तहाँ ॥
मन वच काय सहित सिर नाय। वंदन करहिं भविक गुण गाय॥२१

संवत् सतरह सौ इकताल। अश्विन सुद दशमी सुविशाल ॥
"भैया" वंदन करहिं त्रिकाल। जय निर्वाणकांड गुणमाल ॥२२॥

लड्डू चढ़ाने के पश्चात् बोलने योग्य सामयिक पद्य।

(१)

जय वीर जिनेश, जय वीर जिनेश,सु कर्म निवार के सिद्ध भए॥टेक

कुण्डलपुर माहीं, कुण्डलपुर माहीं, सु सिद्धारथ गृह जन्म लए।
अरु तीस वर्ष में, अरु तीस वर्ष में, सु कुमारहि वय व्रत धार लए
॥ जय० ॥ १ ॥

तप वरष द्वादश, तप वरष द्वादश, सु करके केवल ज्ञान लए।
पुनि तीस वर्ष लौं, पुनि तीस वर्ष लौं, सु मारग मोक्ष प्रचार किए
॥ जय० ॥ २ ॥

पावापुरि वन में, पावापुरि वन में, सु विधि वसु हर शिवधाम गए
कार्तिक वदि मावस,कार्तिक वदि मावस,सु गौतम केवल ज्ञान लए
॥ जय० ॥ ३ ॥

इम सुर नर खग मिल, इम सुर नर खग मिल, सु, उत्सव होय प्रकाश किए
तब से जग माहीं, तब से जग माहीं, सु दीप दिवालि प्रचार भए॥
॥ जय० ॥ ४ ॥

(२)

आज गुरु गौतम गणी, भए केवल ज्ञानी ॥ टेक ॥
वीर प्रभू केवल लह्यो, सुरपति यह जानी।
समवशरण धनपति रच्यो, न खिरी जिन वाणी ॥आज०॥१॥
अवधि थकी सुर जानियो, नहिं गणधर ज्ञानी।
गयो तबहि सुर विप्र बन श्री गौतम थानी ॥ आज० ॥ २ ॥
स्याद्वादमय प्रश्न तब, पूछे सुर ज्ञानी।
अर्थ न भासो गौतमहिं, तब कहो रिसानी ॥ आज गुरु०॥३॥
कौन विप्र तेरो गुरु चल वाके थानी।
वहीं करूँगो अर्थ मैं, सब भेद बखानी ॥ आज गुरु० ॥ ४ ॥
इन्द्र मुदित हो लेगयो, सन्मति ढिग मानी।
देखत मानसथंभ को, गयो मान पलानी ॥आज गुरु० ॥५॥
नमस्कार कर वीर को, दिक्षा मन आनी।
मनपर्यय तब ज्ञान लह, झेली जिनवानी ॥ आज गुरु० ॥६॥
आज गुरु तो शिव भए, तुम केवल ज्ञानी
दीप दिवाली मनाइयो, मन वच तन प्रानी ॥ आज गुरु०॥७॥

भजन ।

सन्मति ! सन्मति-दाता, तुमको लाखों प्रणाम ॥ टेक ॥
सिद्धारथ नृप वंश दिवाकर, तेरा कनक वरण तन सुन्दर ।
दिवि तज जन्म लियो कुण्डलपुर, हर्षे सुर नर वृन्द ॥१॥तुमको०॥
वय कुमार दैगम्बर व्रत धर, बारह वर्ष मौन सह तप कर ।
ज्ञान अनन्त वीर्य सुख दृग धर, घात घाति विधि फन्द॥२॥तुमको०

जीवित पशू यज्ञ जब जरते, बहुते असि के घाट उतरते।
इसको शठ जन धर्म उचरते, करते वध स्वच्छन्द ॥३॥ तुमको०॥
तुमने इसे अधर्म बताया, धर्म अहिंसा ध्वज फहराया।
सबको समता पाठ पढ़ाया, हर जीवन दुख द्वन्द ॥४॥ तुमको०॥
जीवाजीव भेद समझाया, अनेकांत का ज्ञान कराया॥
सत्य चरण शिव-मग दर्शाया, जहँ स्वाधीनानन्द ॥५॥ तुमको०॥
पुनि पावा वन शेष कर्म हर, जाय बसे तुम लोक शिखर पर।
दीप दास प्रभु यावे यह वर, पावे सहजानन्द ॥ ६ ॥ तुमको० ॥

॥ समाप्त ॥

सीवण कला मन्दिर।

अपने बालकों को बेकारी के समय में अवश्य गृह उद्योग सिखाइये। सिलाई का काम पूरा सिखाने के लिये एक "सीवण-कला मन्दिर" निकाला गया है। यहाँ वर्ष के शुरू में दो विद्यार्थिओं को, जिनकी अर्जी पहिले आती है, प्रविष्ट किया जाता है। उनकी योग्यता देख कर योग्य कार्य ट्यूशन बतौर दिया जाता है, जिसके बदले उन्हें स्कालर्शिप बतौर रु० १०) माहवार मिलता है। विशेष फी व समय के लिये नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार करना चाहिये। वर्ष २१ जून से शुरू होता है।

सेक्रेटरी—

सीवण कला मन्दिर

दिल्ली चकला, अहमदाबाद।

सुवर्ण अवसर

अपने बालकों को यदि सुसंस्कृत, धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा दिला कर सुयोग्य विद्वान् बनाना हो, तो उन्हें श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी (मथुरा) में ८ वर्ष की वय में ही प्रविष्ट कराइयेगा।

गत १ वर्ष से आश्रम ने धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, अंगरेज़ी, हिन्दी तथा गणित आदि विषयों के साथ साथ कपड़ा, निवार, दरी, कालीन आदि बुनने तथा टेलरिंग का कार्य भी सिखाना प्रारम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त और भी उद्योग-कार्य बढ़ाने का विचार है, जिससे पढ़ चुकने पर विद्वानों को नौकरी के लिये न भटकना पड़े बल्कि वे स्वतन्त्र आजीविका होकर धर्म, समाज तथा देश की सेवा कर सकें।

प्रवेशेच्छुकों को प्रवेश-फार्म तथा नियम नीचे पते पर लिख कर मँगाना चाहिए।

सुपरिन्टेन्डेन्ट—

श्री ऋ० ब्र० आश्रम, चौरासी-मथुरा।